काव्यादर्श



अनुवादक—

व्रजरत्नदास

साहित्य लड़ी—५

काव्यादर्श

(मूल तथा अनुवाद)

अनुवादक—

ब्रजरत्नदास बी. ए. (प्रयाग)

एल. एल. बी. (काशी)

प्रथम संस्करण

१६८८

प्रकाशक—
व्रजरत्नदास
श्रीकमलमणि ग्रंथमाला-कार्यालय
बुलानाला, काशी।

मूल्य १)

मुद्रक—
कृ० ब० पावगी
हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, काशी।





स्वर्गीय बा० कृष्णचंद चौधरी
(जन्म सं० १९३६ मृत्यु सं० १९७६)

समर्पण

पूज्य मातामह गोलोकवासी भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र

के

अनुज

स्व० बा० गोकुलचंद्र जी

के

पुत्र

पूज्य मातुल

स्व० बा० कृष्णचंद्र जी

को

(स्मृत्यर्थ)

सादर समर्पित

वात्सल्यभाजन—

रेवतीरमणदास

(व्रजरत्नदास)

विषय–सूची

भूमिका

१. अलंकार शास्त्र का विकास

अत्यंत प्राचीन काल से आर्यसंतानगण बराबर प्रार्थना करते चले आए हैं कि

चतुर्मुखमुखाम्भोजवनहंसवधूर्मम ।
मानसे रमतां दीर्घं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥

यही कारण है कि आर्यजाति के प्राचीनतम पूज्य ग्रंथ ऋग्वेद में कविता के बड़े ही सुन्दर सुन्दर नमूने मिलते हैं। ऋग्वेद १-१२४-७, १-१६४-२०, १-१६४ ११ ऋचाओं में क्रमशः उपमा, अतिशयोक्ति तथा व्यतिरेक अलंकार पाए जाते हैं। इस ग्रंथ में कथोपकथन भी पाए जाते हैं, जिनको नाटक का बीज कह सकते हैं । मुंडकोपनिषत्, कठोपनिषत् आदि में भी कविता के उदाहरण मिलते हैं। ये उदाहरण ऐसे हैं कि जिनको बाद के आलंकारिकों ने खूब विवेचना की है।

प्रायः ढाई सहस्र या इससे पहिले के रचे हुए आदि काव्य रामायण तथा महाभारत में कविता की अत्यंत सुंदर छटा स्थान स्थान पर दिखलाती है। उनमें के कितने अंश का बाद के आलंकारिकों ने अपने अपने ग्रंथ में उदाहरणस्वरूप में उपयोग किया है। यास्काचार्य के निरुक्त में उपमा का वर्णन आया है। पाणिनि ने कुछ ग्रंथों का उल्लेख किया है, जिनमें कई काव्य के भी हो सकते हैं। उपमेय, उपमान आदि पारिभाषिक शब्दों का इनके समय तक प्रचार हो चला था । इनमें आए नट सूत्रों के उल्लेख से भी पता चलता है कि नाट्यकला का अविर्भाव हो गया था और शिलालिन्, कृशाश्व आदि नाट्याचार्यों का नाम भी इन के ग्रंथ में आया है। पाणिनि के रचित पातालविजय तथा जांबवतीजय

दो काव्यों का नामोल्लेख मिलता है पर यह निश्चित नहीं है कि काव्य-कार तथा वैयाकरणी पाणिनि एक ही हैं या दो हैं। कात्यायन के वार्तिक में आख्यायिका का उल्लेख हुआ है। पातंजलि ने अपने महाभाष्य में वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी तीन आख्यायिकाओं और एक वाररुच काव्य का उल्लेख किया है। कंसबध तथा बलि-बंधन के प्रत्यक्ष दिखलाने के वर्णन से दो नाटकों का भी उल्लेख पाया जाता है। इनके सिवा और भी इस प्रकार के अनेक उद्धरण अन्य ग्रंथों से लिये हुए महा-भाष्य में मौजूद हैं, जिन में कविता कम नहीं है। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में भी साहित्यिक बातों का वर्णन आया है। तात्पर्य यह कि विक्रमाब्द शक के आरम्भ होने तक संस्कृत में कविता का अच्छा संग्रह हो गया था और कविता का उद्देश्य, साधन तथा उसके नियम आदि की विवेचना करने का समय आ उपस्थित हुआ था। अब काव्य-रचना तथा लाक्षणिक नियमों की विवेचना साथ साथ होने लगी।

सन् १५० ई० के जूनागढ़ के रुद्रदामन क्षत्रप के शिलालेख से ज्ञात होता है कि उस समय तक काव्य की लाक्षणिक विवेचना सुचारु रूप से हो चली थी। इसमें काव्य के गद्य पद्य भेद तथा स्फुट, मधुर, कांत और उदार गुणों की (जो दंडी के अनुसार प्रसाद, माधुर्य, कांति और उदारता हैं) उल्लेख हुआ है। लेख में यमक भी खूब आया है। समुद्रगुप्त के समय के एक लेख में उक्त सम्राट् की प्रशस्ति हरिषेण द्वारा लिखी गई है, जिसकी शैली वाणभट्ट से मिलती जुलती है। अश्वघोष का बुद्धचरित इन दोनों लेखों के बीच में लिखा गया है। प्रत्येक सर्ग के अंत में भिन्न वृत्त के श्लोक दिये गए हैं, जैसा कि नियम था। यमक और अनुप्रास खूब है तथा यथासंख्य अलंकार का आधिक्य है। हाव भाव से पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। अपने एक अधूरे नाटक को प्रकरण और काव्यों को महाकाव्य लिखा है। तात्पर्य यह कि अश्वघोष लक्षण शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। इसी समय के लगभग भरतमुनि का नाट्यशास्त्र बना होगा जिसमें काव्य की आत्मा रस, नाट्यकला, अलंकार

और गुण की विवेचना की गई है। सुबंधु ने अपने वासवदत्ता में और बाण ने अपनी रचनाओं में पारिभाषिक शब्दों का बराबर प्रयोग किया है और इन्हीं के समय के आसपास भामह तथा दंडी से आचार्य कवि हुए, जिन्होंने इस विषय पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखे हैं। दोनों ही अपनी रचनाओं में पूर्वाचार्यों का उल्लेख करते हैं, जिससे यह ज्ञात होता है कि इनके पहिले भी अनेक विद्वानों ने इस विषय पर लेखनी चलाई थी।

काव्य-संबंधी शास्त्र का नाम किस प्रकार और क्या पड़ा, इसके लिये इस विषय की पुस्तकों के नाम से कुछ पता चलता है। प्राचीनतम प्राप्य पुस्तक का नाम नाट्यशास्त्र है। इसके अनंतर के आचार्यों ने काव्यालंकार, अलंकार संग्रह तया काव्यालंकार-सूत्र नाम दिये हैं। काव्य मीमांसा, काव्यकौतुक तथा काव्यप्रकाश नाम बाद को मिलते हैं। अंत में विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण भी नाम दिया है। इन नामों के अनुसार ज्ञात होता है कि इस शास्त्र का नाम क्रमशः अलंकारशास्त्र, काव्यशास्त्र तथा साहित्यशास्त्र पड़ा। तात्पर्य यह कि ये तीनों ही नाम उक्त शास्त्र के द्योतक हैं।

उक्त विचार से यह भी पाया जाता है कि पहिले पहिल दृश्य काव्य का प्राधान्य था और यही कारण है कि नाट्यशास्त्र में रस अलंकारादि का विवरण आया है। बाद को ये दोनों अलग अलग विषय रहे अर्थात् दोनों की प्रधानता समान थी। इसके बाद काव्य की प्रधानता बढ़ी और साहित्यदर्पण में नाटकों का विवरण भी काव्यशास्त्र के अंतर्गत आ गया है। क्रमशः इस शास्त्र का उत्कर्ष हो रहा था और अंतिम स्टेज में यह पूर्णता को पहुँच गया था।

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों की रचनाओं को देखने से ज्ञात होता है कि (१) कुछ ने काव्य के सभी अंगों पर अपने ग्रन्थ में प्रकाश डाला है (२) कुछ ने केवल शब्द शक्ति का विवेचन किया है (३) कुछ ने केवल दृश्य का किया है और (४) कुछ ने एक खास विषय लेकर रचना की है, जैसे अलंकार, रस, ध्वनि आदि। हिन्दी में प्रथम कोटि की

एक भी रचना नहीं है पर अन्य कोटि के ग्रन्थकार मिलते हैं। यह लिखा जा चुका है कि हिन्दी में आचार्यत्व सदा कवित्व का अनुगामी रखा गया है, इसलिये संस्कृत के समान उद्भट अलंकार-शास्त्रियों का हिन्दी में एक प्रकार अभाव होना आश्चर्यजनक नहीं है। आचार्यत्व की दृष्टि से इसमें कम ग्रन्थ लिखे गए हैं।

क्रीड़नीयकमिच्छामि दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्।

काव्य का हेतु अर्थात् प्रयोजन विशेषतः मनोरंजन ही है, पर इस मनोरंजन में यह विशेषता है कि यह 'वेदविद्येतिहासानामर्थानां' परिकल्पित होता है और इसमें वह शक्ति होती है कि जिससे—

दुःखार्तानां समर्थानां शोकार्तानां तपस्विनां।
विश्रांतिजननं काले नाट्यमेतन्मया कृतम्॥

इन काव्यों में भरे हुए उपदेश, उच्च आदर्श, सांसारिक अनुभव तथा अन्य विचारादि श्रोता तथा द्रष्टाओं के हृदयों पर इस प्रकार असर डाल जाते हैं कि उनके अज्ञान में उनकी स्थायी प्रभाव पड़ जाता है। ये आज्ञा नहीं देते और न तार्किक शैली पर चलकर दबाव डालते हैं पर क्रमशः स्त्री के समान मृदु रूप से कानों और आँखों द्वारा हृदयों में पैवस्त हो जाते हैं। इनका प्रभाव अतुलनीय है और यही कारण है कि दंडी ने जोर दिया है कि—

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुंदरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥

साथ ही कविता करने के लिए कवियों को किन साधनों की आवश्यकता है, यह विचारणीय है। दंडी ने लिखा है—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमंदश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसंपदः॥

किसी ने प्रतिभा ही को साधन माना है, पर कोरी प्रतिभा बिना पठन पाठन तथा अभ्यास के किस काम की। निरक्षरभट्ट क्या लिख सकते हैं, बहुत हुआ कुछ ऊटपटांग कजली, चनैनी वगैरह बना डालेंगे। दंडी ने जो लिखा है, वही बहुत ठीक है। स्वभावतः ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा बीज रूप में मुख्य साधन अवश्य है पर अनेक शास्त्रों का अध्ययन उससे कम आवश्यक नहीं है। सांसारिक अनुभव भी, जो पर्यटनादि से प्राप्त होते हैं, काफी होने चाहिएँ। इन सबके होते हुए काव्य रचना का अभ्यास करना चाहिए। यह सब तभी तक आवश्यक हैं जब तक कवि अपने उत्तरदायित्व को पूर्णरूपेण समझता है। उसे जानना चाहिए कि उसके पद तथा पदांश सूक्तियों के समान मानव समाज के पथ प्रदर्शन के काम आवेंगे। कवि प्रज्ञाचक्षु होता है, वह अनंत विश्व में व्याप्त ईश्वरीय संदेशों को मानव समाज के सामने उनके हितार्थ अपनी भाषा में उपस्थित करता है। यदि वह यह सब कार्य सफलतापूर्वक न कर सका तो वह अपने पद से च्युत हो गया।

काव्य की अनेक परिभाषाएँ अनेक आचार्यों ने गढ़ी हैं और उनमें विशेष जोर इस बात पर डाला गया है कि काव्य का शरीर जब शब्दों से बना है तो उसकी आत्मा क्या है। इसी आत्मा को लेकर परिभाषाओं में खूब तर्क वितर्क हुए और अनेक पक्ष बन गए। काव्य में शब्द और अर्थ दोनों के होने का उल्लेख पहिले पहल भामह ने किया है—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। इसके बाद आनेवाले दंडी महाराज ने शब्दार्थ से काव्य-शरीर के निर्माण का और अलंकारों से उसे भूषित करने का जिक्र किया है—

> तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः ।
> शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥

अग्निपुराण में भी 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' लिखा गया है। काव्यशरीर की आत्मा क्या है, इस पर जो वादविवाद हुआ उससे कई

पक्ष हो गए। इनमें रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि पाँच को लेकर पाँच मुख्य पक्ष हुए।

१—रसपक्ष—इसका आरंभ भरतमुनि ने किया है। 'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' सूत्र ही इस पक्ष के तर्क का मुख्य आधार है। यह पक्ष सबसे प्राचीन है और इसकी तर्क प्रणाली यह है कि कविता का प्रभाव मनुष्य के हृदयस्थ भावों पर पड़ता है, उनके मस्तिष्क की तर्क शक्ति पर नहीं पड़ता। मनुष्यों में स्थायीभाव रति, शोक आदि सर्वदा हृदयस्थ रहते हैं और तव तक निश्चेष्ट से रहते हैं जब तक उन्हें आवश्यक उत्तेजना नहीं मिलती। आलंवन तथा उद्दीपन विभावों, अनुभाव और व्यभिचारी भावों को पाकर वे हृदयस्थ स्थायिभाव सचेष्ट हो जाते हैं और तव शृंगारादि रसों का परिपाक होता है। इष्टार्थयुक्त शब्दावली से जब विभावानुभावादि का सुंदर वर्णन कवि करता है तव श्रोताओं के हृदय में एक चित्र सा खिंच जाता है और उसके अनुकूल स्थायीभावको सचेष्ट करता हुआ उसे रसमग्न कर देता है। तात्पर्य यह कि यह पक्ष इस तर्क से रस को काव्य की आत्मा मानता है।

२—अलंकारपक्ष—इस पक्षवाले अलंकारों ही को काव्य का सर्वेसर्वा समझते हैं। यह नहीं है कि ये लोग रसों को या रसपक्ष की तर्क प्रणाली को न जानते रहे हों पर ये कविता की मनोरंजकता का कारण अलंकारों ही को मानते रहे। इन लोगों ने अलंकारों ही को प्रधान तथा रसों को गौण मानकर रसवत् से अलंकार बनाए हैं। 'मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः' (१–५१) और 'कामं सर्वोप्यलंकारः रसमर्थे निषिंचति' (१–६२) दंडी ने बराबर लिखा है। इन्होंने गुणों को भी अलंकार माना है-काश्चिनमार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः। इस पक्ष में भामह, दंडी, उद्भट, रुद्रट आदि सुप्रसिद्ध आचार्यगण हैं।

३-रीति–पक्ष–रुद्रदामन के शिलालेख में चार गुणों स्फुट, मधुर कांत और उदार का उल्लेख हुआ है। नाट्यशास्त्र में दशगुण का ज़िक्र है

और इसमें दिए नाम ही दंडी और वामन ने भी अपने ग्रंथों में रखे हैं। दंडी केवल शब्दों में ये गुण मानते हैं और वामन शब्द तथा अर्थ दोनों में मानते हैं। दंडी ने गुणों को अपने ग्रंथ में विशेष स्थान दिया है और लिखा है कि—

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः ।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड़वर्त्मनि ॥ (१-४२)

साथ ही वह इन 'प्राणाः' को अलंकार के अन्तर्गत कहते हैं। इसीलिए दंडी प्रधानतः अलंकार पक्ष के माने जाते हैं। रीतिपक्ष के मुख्य पोषक वामन हैं। इन्होंने तीन रीति मानी है—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली।

४-वक्रोक्ति-पक्ष—वक्रोक्ति शब्द का अर्थ वाण ने क्रीड़ालाप या परिहास-जल्पित माना है। दंडी कहते हैं—

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्ति वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥

अर्थात् श्लेष से वक्रोक्ति की शोभा बढ़ती है और वह स्वभावोक्ति से विपरीत है। वक्रोक्तिजीवितकार कहता है कि यद्यपि शब्द साधारणतः भाषा ही के होते हैं पर कवि उनका चुनाव बड़ी खूबसूरती से करता है और उनमें भावों तथा वस्तुओं का ऐसा संगठन करता है कि वह कार्य साधारण मनुष्यों की शक्ति के बाहर है। इस कारण वह वक्रोक्ति को कविता की आत्मा समझता है पर यह कथन अलंकार पक्षवालों ही के कथन सा निस्सार है, मिष्ट भाषण तथा आभूषण को नायिका की आत्मा बतलाने के समान है। यह पक्ष अलंकार पक्ष के अन्तर्गत ही है और इसे अलग पक्ष न मानना ही उचित है।

५—ध्वनि—पक्ष—शब्दावली के अभिधेयार्थ अर्थात् वाच्यार्थ से भिन्न व्यंजना से जो प्रतीयमान अर्थ निकलता है, उसे ही ध्वनि कहते हैं और ऐसे ही अर्थयुक्त काव्य ध्वनिकाव्य कहलाते हैं। इस प्रकार की ध्वन्यात्मक

रचनाएँ ही उत्तम कविता समझी जाती है और ध्वनि ही उसकी आत्मा है, ऐसा ध्वन्यालोककार का कथन है। ध्वनि के तीन भेद किए गए हैं—रस, अलंकार और वस्तु। काव्य के तीन भेद ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र बतलाया है। ध्वनि पक्ष रस पक्ष का विस्तार मात्र है और ध्वन्यालोक-कार ने स्वमत का पूर्णरूप से निरूपण किया है। इसीसे पंडित जगन्नाथ ने लिखा है—ध्वनिकृतामालंकारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्।

तात्पर्य यह है कि संस्कृत अलंकारशास्त्र अपने पूर्ण विकास को पहुँच गया था और अब उसका कार्य आधुनिक देशीय भाषाओं को सहायता पहुँचाना रह गया था।

२. अलंकारशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास

राजशेखर काव्यमीमांसा में लिखता है कि पहिले पहल शिवजी ने ब्रह्मा को अलंकारशास्त्र बतलाया था। इसके अनंतर उन्होंने कितनेही शिष्य बनाए जिस शिष्यपरंपरा में अलंकारशास्त्र के अठारह अधिकरण के अठारह आचार्य हुए। इनमें से सुवर्णनाभ और कुचुमार का नाम कामसूत्र में आया है और भरतमुनि का रूपकों पर नाट्यशास्त्र प्राप्त ही है। यह सब होते भी सबसे प्राचीन ग्रंथ अग्निपुराण कहा जाता है जिसके ३३६-३४६ परिच्छेद अलंकारशास्त्र पर हैं। पुराण शब्द के कारण हो स्यात् इसकी प्राचीनता मान ली गई है पर यह सातवीं शताब्दि के पहिले की रचना नहीं हो सकती।

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र वास्तव में सबसे प्राचीन लक्षण ग्रंथ है। यह ग्रंथ काव्यमाला में प्रकाशित भी हो चुका है पर उसमें पाठ अशुद्धि बहुत है। काशी से इसका एक संस्करण निकला है, जो उससे कहीं अच्छा हुआ है। इस में पाँच सहस्र अनुष्टुभ श्लोक हैं। इसमें नाट्य विषय प्रधान है और उसी कारण रस, अलंकारादि का भी समावेश हुआ है। इसका समय विक्रम की दूसरी शताब्दि के लगभग हो सकता है।

मेधाविन नामक आचार्य का भामह ने उल्लेख किया है। नमिसाधु भी इस नाम का उल्लेख करता है और दोनों ने इनका उपमा के सात दोष बतलाने का जिक्र किया है। इनकी कोई रचना अब तक नहीं मिली है। यद्यपि इनके बाद धर्मकीर्ति का नाम लिया जाता है पर इन्होंने अलंकार शास्त्र पर कुछ लिखा है, या नहीं इसका कुछ भी निश्चय नहीं है।

भट्टि काव्य २२ सर्गों तथा चार काण्डों में विभक्त है। इनमें केवल एक प्रसन्न काण्ड (१०–१२ स०) काव्य विषयक है, जिनमें अलंकार गुण आदि का वर्णन है। अन्य व्याकरण विषयक हैं। इन्होंने वल्लभी के राजा धरसेन के आश्रय में इसे लिखा है। वल्लभी में इस नाम के चार राजे हुए, जिनमें पहिले का समय निश्चित नहीं। दूसरे का प्राचीनतम लेख सन् ५७१ ई० का है। इसलिये भट्टि का समय छठी शताब्दि के अंतर्गत है।

इसके अनंतर भामह–दंडी काल आता है और जैसा कि आगे विवेचना की जायगी भामह दंडी के पहिले हुए थे। ये दोनों ही प्रसिद्ध आचार्य हो गए हैं और दंडी के विषय में लिखते हुए भामह के बारे में भी बहुत कुछ लिखा गया है। भामह का काव्यालंकार सुप्रसिद्ध ग्रंथ है। ६ परिच्छेद में चार सौ श्लोक विभाजित हैं। पहिले में वही विषय है जो काव्यादर्श में दिये गए हैं। दूसरे में गुणों के साथ २ अलंकार का आरम्भ हो जाता है, जो तीसरे में समाप्त होता है। चौथे और पाँचवें में दोष तथा छठे में शब्दावली के शुद्ध होने का विवरण है।

उद्भट का समय राजतरंगिणीकार ने निश्चित कर दिया है—

विद्वान्दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः ।
भट्टोभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः ॥

यह काश्मीर नरेश जयापीड के सभापति थे, जिनका राज्यकाल सन् ७७९–८१३ ई० है। इनके ग्रंथ का नाम अलंकारसार–संग्रह है जो

छ सर्गों में विभक्त है। इस में ७९ कारिका और सौ उदाहरण हैं। इन्हों ने ४१ अलंकारों का वर्णन किया है।

वामन का काव्यालंकार सूत्र तीन भाग में है – सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। पूरा ग्रन्थ ५ अधिकरण और १२ अध्याय में बँटा हुआ है तथा कुल सूत्र ३१९ हैं। इनमें भी वही काव्य का प्रयोजन, परिभाषा, दोष, गुण अलंकारादि का विवरण है। इन्होंने अनेक कवियों का उद्धरण दिया है, जिससे उन लोगों के समय-निर्धारण में बहुत सहायता पहुँचती है। इनका समय प्रायः रुद्रट ही के आसपास है।

रुद्रट के काव्यालंकार में १६ अध्याय हैं और आर्या छंद में रचा गया है। इसमें ७३४ श्लोक हैं, जिनके सिवा नायिका भेद के प्राप्त १४ श्लोक प्रक्षिप्त माने जाते हैं। प्रथम दो अध्याय में काव्य का प्रयोजन, साधन और रीति, भाषा तथा वृत्ति का विवरण है। तीसरे से दसवें तक अलंकारों का, ग्यारहवें में दोष और बारहवें से पन्द्रहवें तक रसों का वर्णन है। सोलहवें में काव्य के भेदों का विवरण है। इनका समय नवीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध है। रुद्रभट्ट कृत शृंगारतिलक भी प्राप्त हुआ है, जिसे लोग रुद्रट का मानते हैं पर अधिकतर इनके दूसरे व्यक्ति होने ही की संभावना है।

आनंदवर्धनाचार्य का ध्वन्यालोक सुविख्यात ग्रंथ है, जो चार उद्योतों में विभक्त है। इसमें १२९ कारिकाएँ हैं जिनपर वृत्ति लिखी गई है और उदाहरण दिये गए हैं। पहिले उद्योत में वाच्य और प्रतीयमान अर्थों का विवेचन करते हुए ध्वनि क्या है, यह बतलाया गया है। दूसरे में ध्वनि के व्यंग्यद्वारा हुए भेदों का वर्णन है और तीसरे में व्यंजक द्वारा किए गए भेदों का। चौथे में प्रतिभा का ध्वनि पर क्या प्रभाव है, प्रधान एक होना चाहिये इत्यादि वक्तव्य है। यह राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर नरेश अवंतिवर्मा के सभा में थे, जिनका समय (८५५-८८३ ई०) है।

राजशेखर ने अठारह अध्यायों की काव्यमीमांसा लिखी है। पहिले में काव्यशास्त्र की पौराणिक उत्पत्ति, दूसरे में शास्त्रनिर्देश, तीसरे में काव्य-

पुरुषोत्पत्ति, चौथे में पदवाक्यविवेक, पाँचवें में कवियों के भेद, छठे में काव्य शरीर, शब्द-वाक्य-विवरण, सातवें में भाषा तथा रीति, आठवें में काव्य-वस्तु के आधार, नवें में विषयभेद, दसवें में कविचर्या, राजचर्या, कलाआदि, ग्यारहवें से तेरहवें तक पूर्व कवियों के भावापहरण का औचित्यानौचित्य, चौदहवें से सोलहवें तक कविसमय सिद्ध बातें, सत्रहवें में देशविभाग और अठारहवें में काल विभाग वर्णित है। राजशेखर का समय दसवीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध है।

मुकुलभट्ट की अभिधावृत्ति-मातृका साधारण पुस्तक है। भट्टतौत ने काव्यकौतुक लिखा है। भट्ट नायक का हृदय-दर्पण ध्वनि पक्ष के विरोध में लिखा गया था। इनका समय दसवीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध हो सकता है।

वक्रोक्तिजीवितकार कुंतक ने प्रायः अन्य लोगों ही की कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण सभी लेकर अपनी रचना पूरी की थी। इन्हों ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है। इनका समय दसवीं शताब्दि का अंत है। धनंजय ने दशरूप में रसपक्ष पर विवेचन किया है इसीलिये इसका यहाँ जिक्र किया गया है। यह नाट्यकला पर ग्रंथ है और इनका समय दसवीं शताब्दि का अंत है।

राजानक महिम भट्ट ने व्यक्तिविवेक ध्वनि पक्ष के खंडनार्थ लिखी थी। यह श्री धैर्य का पुत्र तथा श्यामल का शिष्य था। यह काश्मीरी थे और ग्यारहवीं शताब्दि के पूर्वार्ध में हुए थे। भोज का सरस्वती-कंठाभरण बड़ा ग्रंथ है और इसमें संकलन भी अधिक हुआ है। इसमें दोष, गुण, अलंकारादि का विस्तार से वर्णन है। इन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं और इनका समय ग्यारहवीं शताब्दि का पूर्वार्ध है।

क्षेमेंद्र ने कवि-कंठाभरण और औचित्यविचारचर्चा तथा अन्य कई ग्रंथ लिखे हैं। यह काश्मीरी थे तथा राजा अनंतवर्मा (राज्यकाल १०२८–१०६३ ई०) के समय में थे।

इसके बाद सुप्रसिद्ध मम्मट का समय आता है, जिनका ग्रंथ काव्य प्रकाश के नाम से विख्यात है। इसमें ग्रंथकार ने पूर्व के विवेचित सभी

विषयों का समावेश किया है और उनपर अपनी तर्क प्रणाली से नया प्रकाश डाला है। यह ग्रंथ दस उल्लास में बँटा है और केवल १४२ कारिका में काव्य शास्त्र के सभी विषय आ गए हैं। इन्होंने अन्य कवियों के छ सौ उदाहरण उद्धृत किए हैं। इस ग्रंथ की रचना में अलक या अलट नाम के भी एक विद्वान का हाथ था। यह ग्रंथ इतना लोकप्रिय हुआ कि इसपर प्रायः सत्तर टीकाएँ लिखी गईं। यह ग्रंथ ग्यारहवीं शताब्दि के अंत या बारहवीं के आरम्भ में लिखा गया होगा।

रुय्यक का अलंकार सर्वस्व भी प्रख्यात ग्रंथ है। यह ध्वनि पक्ष के समर्थक थे। इन्होंने भी उदाहरण प्रायः दूसरों ही के रखे हैं और कई ग्रंथ लिखे हैं। इनके शिष्य मङ्खक ने अपने गुरु की रचना में कहीं कहीं कुछ अपने ग्रंथ से लेकर जोड़ दिया है। रुय्यक का समय बारहवीं शताब्दि का मध्य है।

वाग्भट्ट का वाग्भटालंकार दो सौ साठ श्लोकों का छोटा सा ग्रंथ है जो पाँच अध्यायों में बँटा हुआ है। यह बारहवीं शताब्दि के अंत में उपस्थित रहे होंगे। हेमचन्द्र का काव्यानुशासन सूत्र, वृत्ति तथा टीका तीन भाग में है। कुल ग्रंथ में ८ अध्याय हैं। यह काव्यमीमांसा, ध्वन्यालोक और काव्य प्रकाश के आधार पर संकलित हुआ है। यह जैन साहित्यिकों में प्रमुख हुए हैं और इन्होंने खूब लिखा है। इनका जन्म सन् १०८८ ई० में और मृत्यु सन् ११७२ ई० में हुई थी।

पीयूषवर्ष जयदेव कृत चन्द्रालोक अत्यंत उपयोगी ग्रंथ है। इसमें साढ़े तीन सौ श्लोक हैं और दस मयूख में विभाजित है। उदाहरण इन्होंने निज के दिये हैं तथा विशेषतः एक ही श्लोक में लक्षण और उदाहरण दोनों दिया है, जिससे विद्यार्थियों को याद करने में बड़ी सुगमता होती है। इनके पिता का नाम महादेव और माता का नाम सुमित्रा था। इन्होंने प्रसन्न राघव नाटक भी लिखा था। इनका समय तेरहवीं शताब्दि का आरम्भ हो सकता है। यह ग्रंथ इसी माला में हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुका है।

भानुदत्त ने रसतरंगिणी और रसमंजरी दो पुस्तकें लिखी हैं । प्रथम में भाव विभावादि रस विषयक और द्वितीय में नायिका भेद विवरण है । यह गंगातटस्थ विदेह के रहनेवाले गणेश्वर के पुत्र थे। यह तेरहवीं शताब्दि के लेखक थे ।

विद्याधर की एकावली में भी कारिका, वृत्ति और उदाहरण हैं जो सब इन्हीं की रचना है । इनके आश्रय दाता उत्कल नरेश नृसिंह दो हुए हैं । प्रथम केसरि नरसिंह (१२८२–१३००) और दूसरे प्रताप नरसिंह (१३०७-१३२७) थे । इससे यही निश्चय होता है कि विद्याधर तेरहवीं शताब्दि के अंत में रहे हों गे ।

विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण तेलिंगाना के काकतीय नरेश प्रतापरुद्रदेव के लिये बनाया गया था । इसमें भी कारिकाएँ, वृत्ति तथा उदाहरण दिये गए हैं और नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार पर नौ प्रकरण हैं । प्रतापरुद्र का समय विक्रमीय चौदहवीं शताब्दि का मध्य है ।

एक अन्य वाग्भट्ट का काव्यानुशासन भी मिलता है जो जैनी नेमि-कुमार के लड़के थे । यह ग्रंथ पाँच अध्यायों में विभक्त है । चौदहवीं शताब्दि में इनका वर्तमान होना जान पड़ता है ।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ चंद्रशेखर के पुत्र थे । ये उड़ीसा के रहने-वाले थे और कलिंग नरेश के यहाँ सांधिविग्रहिक महापात्र पद पर नियुक्त थे । यह वैष्णव थे । यह सुकवि थे और इस लिए अपने विशद ग्रंथ में उदाहरण स्वरचित ही रखे हैं । इन्हों ने काव्य, नाटिकादि सात आठ ग्रंथ बनाए हैं । यह भी चौदहवीं शताब्दि में वर्तमान थे । साहित्य-दर्पण बड़ा ग्रंथ है और इसमें दृश्य तथा श्रव्य दोनों प्रकार के काव्यों का पूरा विवरण है । इनकी भाषा सरल और सुगम है तथा विद्यार्थियों के बहुत काम की है ।

केशव मिश्र का अलंकारशेखर आठ रत्न और २२ मरिचियों में विभक्त है । यह भी कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण युक्त है जिसमें से

कारिका शौद्धोदनि की रची कही जाती है। यह कांगड़ा के राजा माणिक्य-चन्द्र के लिये लिखी गई थी।

अप्पय्य दीक्षित ने, कहा जाता है कि, सौ से अधिक ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें तीन साहित्य शास्त्र पर हैं। वृत्ति-वार्तिक शब्द शक्ति पर लिखा गया है और कुवलयानन्द चन्द्रालोक की व्याख्या तथा अलंकार ग्रंथ है। चन्द्रालोक में एक सौ अलंकारों का वर्णन है। इसमें २४ अलंकार और बढ़ाये गए हैं। चित्र मीमांसा में काव्य के ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र तीन भेद तथा अलंकारों के विवरण दिये गए हैं। अप्पय्य दीक्षित का समय सत्रहवीं शताब्दि का आरम्भ है।

पंडितराज जगन्नाथ अंतिम विख्यात आचार्य हो गए हैं, जिनका रस गंगाधर साहित्य शास्त्र के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथों में परिगणित है। ग्रंथ भी बड़ा है और काव्य की परिभाषा से आरम्भ किया गया है। इसमें इन्होंने अपने अनेक शास्त्र ज्ञान का परिचय भी खूब दिया है, जिससे यह ग्रंथ विद्वानों ही के परिशीलन के योग्य है। यह पुस्तक अपूर्ण प्राप्त है। इन्होंने चित्र मीमांसा खंडन, भामिनि विलास, गंगालहरी, आसफविलास और मनोरमा कुचमर्दनम् लिखा है। जगन्नाथ तैलंग ब्राह्मण पेरुभट्ट के पुत्र तथा शेष वीरेश्वर के शिष्य थे। शाहजहाँ ने इन्हें पंडित-राज की पदवी दी थी। इनका समय सत्रहवीं शताब्दि का मध्य भाग है। इस के अनंतर कुछ साहित्य शास्त्री हुए तथा कुछ पुस्तकें भी लिखी गईं पर वे उपयोगी नहीं हुईं, क्योंकि संस्कृत की पुत्रियाँ हिन्दी आदि में अब ऐसी रचनाओं के होने ही में महत्त्व बच रहा था।

३. कविपरिचय

इहलोक के नश्वर विचारों से परे भारतीय प्राचीन विद्वान या कविगण ने कभी अपने विषय में कुछ न लिखने की ऐसी रीति सी चला रखी थी कि कभी कभी तो उन लोगों के पूरे नाम तक का भी पता नहीं लगता। किसी कारण विशेष ही से कहीं कुछ पता चल जाता है या

उन्हें विवश हो कुछ अपने विषय में लिखना पड़ जाता है। उदाहरणार्थ नाटकों की प्रस्तावनाओं में कवि को अपना कुछ परिचय देना शास्त्रोक्त है इसलिए कुछ लिखने को वे परवश हो जाते हैं और यथाकिंचित् लिखकर उस प्रथा का निर्वाह कर डालते हैं। दंडी महाराज नाटककार भी न थे, इसलिये केवल उनकी रचनाओं के अंतर्गत आई हुई कुछ बातों से तथा सुनी सुनाई दन्तकथाओं और अन्य रचयिताओं के उल्लेखों के सहारे कुछ बातों का अब तक पता चला था। इधर एक नया साधन प्राप्त हुआ है जिसका भी इस लेख में समावेश कर दिया गया है।

दंडी कितने प्रसिद्ध कवि तथा आचार्य हो गए हैं तथा उनकी रचनाओं से देश को कितना लाभ पहुंचा है, यह इसी से ज्ञात होता है कि आज बारह शताब्दी से अधिक व्यतीत हो जाने पर भी अलंकार विषय मनन करने के लिये इनका काव्यादर्श ज्यों का त्यों आवश्यक बना हुआ है। इनकी इतनी प्रसिद्धि हो गई थी कि किसी कवि ने लिखा है

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधा भवेत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दंडिनि ॥

(साहित्य भांडागारम्)

आदि कवि वाल्मीकि ऋषि के संसार में जन्म लेने पर कवि शब्द बना, व्यास से उसका द्विवचन कवी और दंडी से बहुवचन कवयः शब्द की (आवश्यकता) हुई। इन दंडी के पद–लालित्य की भी बड़ी प्रशंसा है और इनका नाम संस्कृत साहित्य के अन्य तीन प्रमुख महा कवियों के साथ लिया गया है

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दंडिनः पदलालित्यं माघे संति त्रयो गुणाः ॥

कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थगौरव और दंडी का पद लालित्य प्रसिद्ध है। माघ में तीनों गुण मौजूद हैं।

इन दंडी के साथ आधुनिक काल में जिन भामह को लेकर बहुत वादविवाद हुआ था, उनका नाम ही नाम सुन पड़ता था और उनका ग्रन्थ काव्यालंकार कुछ दिन पहिले अप्राप्य था। इसका उल्लेख बुहलर, गस्टाव ओपर्ट, जेकब आदि कई विद्वानों ने किया था पर पहिले पहिल यह ग्रन्थ सन् १९०९ में प्रकाशित विद्यानाथ कृत प्रतापरुद्र यशोभूषण के परिशिष्ट रूप में पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया गया, जिसका श्रेय पं. के. पी. त्रिवेदी जी को है। इसी कारण एक सुप्रसिद्ध विद्वान लिखते हैं कि 'काव्यादर्श के रचयिता दंडी अर्वाचीन काल के भारतीय साहित्यिकों में विशेष प्रिय थे, स्यात् भामह से भी ये कुछ अंश तक अधिक लोकप्रिय थे, क्योंकि उनकी रचना बहुत समय तक अप्राप्य रही थी।

भामह-दंडी-विवाद का संक्षेप

भामह तथा दंडी को लेकर विद्वानों में अभी तक, बहुत कुछ तर्क वितर्क हो चुका है पर यह आज भी उपसंहृत नहीं हुआ है। इस समग्र तर्कावली का फल यही निकला कि दो में से एक का भी समय निश्चित न हो सका और न यही प्रमाणित रूप से निश्चय किया जा सका कि दोनों में से कौन पहिले का है। ये दोनों चमकते तारे समय रूपी अनंत आकाश में चमक रहे हैं और हम लोग तर्क कर रहे हैं कि उनमें से कौन हमसे अधिक दूर है। हाँ यदि इन दो आलंकारिकों में से एक का समय निश्चित किया जा सके तब इस तर्कावली से लाभ उठ सकता है। यह तर्क वितर्क पहिले पहिल नरसिंह इएंगर ने उठाया था, जिसका उत्तर पक्ष त्रिवेदी जी ने ग्रहण किया था। अंत में अब प्रायः सभी विद्वान इस पक्ष को मानते हैं कि भामह का दंडी से पहिले होना ही अधिक मान्य है। विद्वद्वर के० पी० काणे ने कुछ तर्कावली का संक्षेप साहित्यदर्पण की भूमिका में दे दिया है, जिसका कुछ आवश्यक अंश यहाँ दे दिया जाता है। इसका कारण केवल यही है कि अब दो में एक का समय निश्चित हो गया है।

वास्तव में ये दोनों आचार्य बहुत प्राचीन हैं और दोनों ही ने स्पष्टतः लिखा है कि वे अपने से प्राचीनतर आचार्यों के ग्रंथों का परिशीलन कर अपनी रचनाएँ लिख रहे हैं। ऐसी अवस्था में जब ये दोनों ही किसी तीसरे का कुछ अंश समान रूपेण देते हैं या उसकी समालोचना करते हैं, तो आज यह सहज ही समझ लिया जाता है कि वे आपस ही में एक दूसरे का उद्धरण ले रहे हैं या एक दूसरे की आलोचना कर रहे हैं। पर वास्तविक बात कहीं दूसरी ही रहती है, इसलिए ऐसे विवाद प्रायः विशेष महत्त्व के नहीं हैं। यह तर्क भी कि कुछ कवियों ने भामह को चिरंतन पदवी दी है और दंडी को केवल रुद्र के टीकाकार नमिसाधु ने भामह के पहिले याद किया है, इसलिए भामह प्राचीनतर हैं, निस्सार है। दोनों ही पुराने आचार्य हैं और उनमें से एक का नाम कई ग्रंथों में आ जाने से तथा एक का केवल एक ही में आने से, जब कि यह उन सबसे प्राचीन है, विपरीत ही भाव प्रकट करता है। साथ ही यह कोई बात नहीं है कि जब पुराने आचार्यों का नामोल्लेख किया जाय तब सभी का समयानुक्रम से नाम आना आवश्यक ही है। दंडी ने भामह से उपमा के कहीं अधिक भेद दिए हैं तथा शब्दालंकारों पर विशेष लिखा है, जिससे एक पक्ष उन्हें बाद का कवि मानता है पर इस प्रकार की बहस से तो भरतमुनि भी भामह के बाद पड़ जांयगे क्योंकि भरत ने यमक के दस भेद और भामह ने केवल पाँच ही दिये हैं। यों तो बाद ही के आचार्यों ने यमकादि पर बहुत कम लिखा है। दंडी का उपमाभेद भी किसी वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं किया गया है और इन बातों से तो दंडी ही पूर्व के ज्ञात होते हैं।

टीकाकार तरुण वाचस्पति, जो बारहवीं शताब्दि के लगभग हुए हैं, लिखते हैं कि दंडी भामह की आलोचना करते हैं पर इसपर इस कारण विश्वास न करना चाहिए कि वह दोनों के कई शताब्दियों बाद हुए और दो विरुद्ध विचार देखकर लिख दिया कि एक दूसरे की आलोचना कर रहा है। इसी प्रकार भामह ने कथा और आख्यायिका में

ख

भेद बतलाया है पर दंडी भगवान लिखते हैं कि दोनों एक ही जाति के हैं, केवल नाम भेद है। इसपर बहस भी किया गया है। पर यह भेद भामह के पहिले का है और इसलिये यह कहना कि दंडी भामह ही की आलोचना करते हैं ठीक नहीं है क्योंकि दंडी ने उन दोनों के व्याख्याता-विषयक जो कटाक्ष किये हैं उस पर भामह ने कुछ भी नहीं लिखा है। दंडी ने चार उपमादोष बतलाए हैं और भामह ने सात। साथ ही भामह यह भी कहते हैं कि ये सात दोष मेधाविन के बतलाए हुए हैं। इससे दोनों में दंडी ही के पूर्ववर्ती होने की ध्वनि निकलती है।

'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः'

श्लोकांश को लेकर दंडी तथा भामह दोनों ने अपने अपने वक्तव्य दिये हैं, जो इन दोनों से प्राचीन है। इससे इन दोनों में से किसी की प्राचीनता स्थापित नहीं की जा सकती। प्रेय के उदाहरण में 'अद्यया मम गोविंद' श्लोक दोनों ने दिया है। भामह प्रेय तथा ऊर्जस्वि की परिभाषा न देकर केवल उदाहरण देते हैं और दंडी ने परिभाषा देते हुए प्रेय के दो उदाहरण दिये हैं। वास्तव में दोनों ने पुराना श्लोक उद्धृत किया है, जिससे कुछ भी निश्चय नहीं किया जा सकता।

भामह ने दस दोष गिनाकर 'प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते' ग्यारहवें दोष पर एक परिच्छेद लिख डाला है। दंडी ने इस दोष की उपेक्षा कर दी है। (तृ० प० १२०) यह तर्क नाट्यशास्त्र में भी उठाया गया है और हो सकता है कि किसी अन्य आलंकारिक के विवरण की दंडी ने उपेक्षा की हो।

'विजितात्म व्योमाभिनंदति' (३ परि० १२०) का अर्धांश भामह में भी मिलता है और इससे भामह का दंडी से उद्धृत करना ज्ञात होता है। हो सकता है कि दोनों ही ने किसी अन्य कृति से इसे उद्धृत किया हो। ऐसा भी असंभव नहीं है कि दंडी ने उस अर्धांश को लेकर पूरा श्लोक बना डाला हो। यद्यपि दंडी ने 'अभिधास्यामः' लिखा है और प्रायः सभी श्लोक उन्हीं की रचना है पर एकाध श्लोक इधर उधर से ले लिया

गया हो तो हर्ज ही क्या है, उन्होंने इसके लिए कोई शपथ नहीं लिया था।

कई स्थलों पर दोनों आचार्यों में मतभेद है और इस कारण एक ने दंडी को भामह से पहिले का मान लिया है कि भामह दंडी की आलोचना कर रहे हैं। भामह ने वैदर्भी और गौड़ी मार्गभेद करनेवालों पर आक्षेप किया है और दंडी ने यह भेद माना है। अधिक संभव है कि भामह ने पूर्वाचार्यों पर, क्योंकि उन्होंने 'सुधियः' शब्द से उन लोगों को याद किया है, कटाक्ष किया हो और दंडी ने भामह के व्यंग्य पर उस भेद का स्पष्टीकरण विशेष रूप से किया हो। गुणों की संख्या लेकर भी तर्क वितर्क हुआ है पर दश गुण नाट्यशास्त्र में भी कहे गए हैं, जो दोनों से पहिले के हैं और वामन ने भी यही लिया है, जो दोनों से बाद के हैं। भामह कहते हैं 'केचिदोजोभिधित्सन्तः समस्यंति बहून्यपि' और दंडी लिखते हैं—ओजः समास भूयस्त्वं। अब कौन किसका विरोध करता है, यह कहना अनुमानमात्र है।

भामह ने 'निंदाप्रशंसाचिख्यासाभेदादत्राभिधीयते' लिखा है और कहा है कि मालोपमादि का विस्तार व्यर्थ है। दंडी ने इन तीनों सहित प्रायः तीस भेद दिये हैं। एक पक्ष ने कहा है कि दंडी के बहुत भेद देने ही पर भामह ने केवल तीन भेद ठीक मानकर अन्य का कथन व्यर्थ बतलाया है। दूसरा पक्ष कह सकता है कि दंडी ने भामह के अन्य भेदों के व्यर्थ बतलाने ही पर भेदों का विस्तार से वर्णन किया है। इसी प्रकार जब दंडी ने हेतु, सूक्ष्म और लेश को उत्तम अलंकार माना है तो भामह उनमें अलंकारता ही नहीं पाते। स्वभावोक्ति तथा उदात्त अलंकारों को लेकर भी तर्क किया गया है, जिसका विशेष मूल्य नहीं है।

(रुद्रट १. २) नमिसाधु रुद्रट से पहिले के अलंकार ग्रन्थों का इस प्रकार उल्लेख करता है—दण्डिमेधाविरुद्रभामहादि कृतानि। मेधावि का भामह के पहिले होना निश्चित है और दंडी का नाम उसके भी पहिले नमिसाधु ने दिया है इसलिए यह कहा जा सकता है कि दंडी भामह के पहिले के हैं। प्रथमतः तो यह केवल अनुमान किया गया

है कि नमिसाधु ने समय क्रम से ये नाम दिये हैं क्योंकि वह तो केवल कुछ ग्रंथों का नाम दे रहा है। दूसरे आदि शब्द भो कह रहा है कि कुछ खास नाम दे दिये गए हैं और उनमें कोई क्रमविशेष नहीं है।

यहाँ तक पुराने वाद विवाद का संक्षिप्त विवरण समाप्त हो गया। दंडीकृत अवंतिसुन्दरी कथा जो हाल ही में प्राप्त हुई है उसमें बाण मयूरादि कवियों का उल्लेख हुआ है तथा इस कथा में कादंबरी के पूर्वार्ध का घटना-वर्णन आदि ही दिया हुआ है। उत्तरार्ध इनके मस्तिष्क से प्रसूत हुआ है। तात्पर्य यह कि दंडी वाणभट्ट के बाद अवश्य हुये, जिनके आश्रयदाता हर्षवर्धन का समय सन् ६०६-६४८ ई० है।

नवीं शताब्दि के उत्तरार्ध के सुप्रसिद्ध आचार्य आनंदवर्धन अपने ध्वन्यालोक (उद्योत ४ पृ० २३६) में लिखते हैं कि 'वही भाव एक कवि द्वारा कथित होने पर भी नया तथा चमत्कार पूर्ण ज्ञात होता है जब वह दूसरे कवि द्वारा लाक्षणिक आच्छादन से सुशोभित किया जाता है।' इन्होंने इसका उदाहरण जो दिया है उसमें काव्यालंकार के एक श्लोक में भामह द्वारा व्यक्त भाव को वाणभट्ट द्वारा हर्षचरित में गद्य में विकसित हुआ दिखलाया है। इससे खूब स्पष्ट है कि आनंदवर्धन ने अपने समय के काश्मीरी विद्वानों में प्रचलित विश्वास के अनुसार ही लिखा है कि वाणभट्ट से भामह इतने प्राचीनतर हुए थे कि उन्होंने उनके भाव को लेना अनुचित नहीं समझा था।

इस कुल वाद विवाद का फल अब तक यही निकला है कि बिल्कुल निश्चय रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। हाँ, अधिक विद्वानों की राय में दंडी से भामह ही का पहिले होना पाया जाता है। नए उपलब्ध साधन से दंडी के विषय में जो कुछ पता लगा है उससे दंडी का समय निश्चय हो जाता है, जिससे इस तर्क वितर्क का अब यह फल निकला कि यही अधिक संभव है कि भामह सातवीं शताब्दि के आरम्भ या उससे पहिले हुये थे।

काव्यादर्श के अंतर्गत उल्लिखित ग्रंथादि से भी दंडी के विषय में क्या ज्ञात होता है, इसकी अब विवेचना की जायगी और उसके बाद उनकी रचनाओं का विवरण देकर उनके समय पर विचार किया जायगा, क्योंकि इन दोनों से भी उनके समय पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

काव्यादर्श में उल्लिखित बातें

दंडी ने काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद के श्लोक ३८ में भूतभाषा के बृहत्कथा तथा श्लोक ३९ में महाराष्ट्री भाषा के सेतुबंध काव्यों का उल्लेख किया है पर उनसे उनके समय निर्धारण पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। द्वितीय परिच्छेद के श्लोक २७८–९ में रातवर्मन (पाठान्तर राजवर्म्मन) के आनन्द का प्रेय अलंकार के उदाहरण में उल्लेख हुआ है। राजवर्मा पल्लव नरेश नृसिंह वर्मा द्वितीय का एक विरुद था और दंडी ने उक्त श्लोक में उसी का उल्लेख किया है, क्योंकि यह प्रायः सदा कांची ही के दरबार के आश्रित रहे। उसी परिच्छेद के श्लोक २८० में अवंती की राजकन्या का उल्लेख है। * तृतीय परिच्छेद के श्लोक २५ में 'वराह' का श्लेष चालुक्य वंशीय राजवंश के राजचिन्ह का और श्लोक ५० में 'कालकाल' कांची के नरसिंह वर्मन द्वितीय के एक विरुद का द्योतक ज्ञात होता है। इसी परिच्छेद के श्लोक ११४ में एक प्रहेलिका है, जिसका उत्तर कांची का पल्लव वंश है। श्लोक ११२ में भी 'पल्लव' शब्द इसी वंश का द्योतक जान पड़ता है। इस प्रहेलिका का अष्टवर्णा शब्द महेंद्रवर्मन प्रथम के मामंदिर लेख में भी पाया गया है। पल्लव के स्थान पर कुछ सज्जन पुंड्रक शब्द अनुमानित करते हैं पर कांची के किसी पुंड्रक वंश का उल्लेख उस काल में नहीं मिलता।

इसके सिवा छंदोविचिति शब्द का परि० १ श्लोक १२ में उल्लेख है, जिसे कुछ विद्वानों ने दंडी का एक ग्रंथ मान रखा है पर वास्तव में

---

* दशकुमारचरित में राजवाहन तथा अवंतिसुंदरी के परिणय का वर्णन है।

वह छंदशास्त्र का नाममात्र है। यह नामकरण इस शास्त्र के वेदांग के लिए पिंगल नाग का किया हुआ कहा जाता है, जिनका शावर भाष्य में उल्लेख हुआ है। यह शब्द कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में भी दिया हुआ है। छंदो विचित नामक ग्रंथ का उल्लेख वामन ने अपने काव्यालंकार-सूत्र नामक ग्रंथ में किया है। हो सकता है कि स्यात् कोई छोटा ग्रंथ इस नाम का बना हो और अब अप्राप्य हो। पूर्वोक्त ग्रंथों के अलावा दंडी ने अन्य ग्रंथों के बिना नाम लिये हुए हवाले दिये हैं। परि० २ श्लोक २२७ में पातंजलि का महाभाष्य आप्तभाषित के नाम से उल्लिखित है। परि० २ श्लोक ३६७ के आगमांतर शब्द से भरत के नाट्यशास्त्र का उल्लेख हुआ है और इस श्लोक के सन्ध्यंग, वृत्त्यंग और लक्षण का वर्णन नाट्यशास्त्र के उन्नीसवें, बीसवें तथा सोलहवें परिच्छेदों में हुआ है। पूर्वसूरिभिः, पूर्वाचार्यैः आदि शब्दों से दंडी ने बराबर प्राचीन ग्रंथकारों के मत का उल्लेख किया है। हेतुविद्या नाम से न्याय, सुगत तथा कापिल (सांख्य दर्शन) तीनों का परि० ३ श्लोक १७३-५ में उल्लेख किया है।

दंडी की रचनाएँ

'त्रयो दण्डिप्रबंधाश्च' के अनुसार दंडी के तीन ग्रंथ होने चाहिये पर अब तक निर्विवाद रूप से एक काव्यादर्श ही दंडी कृत माना जाता है। 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' (२-२२६) श्लोक को मृच्छकटिक नाटक से उद्धृत कर दंडी ने उसपर विशेष तर्क किया है कि इसमें यद्यपि लोग उपमा अलंकार बतलाते हैं पर वास्तव में उत्प्रेक्षा है। पिशेल ने यह देख कर लिख डाला है कि मृच्छकटिक दंडी ही की रचना है और काव्यादर्श तथा दशकुमारचरित मिलाकर तीन प्रबंध पूरे हो गए। परन्तु यह श्लोक भास रचित कहे जाते हुए दो नाटकों चारुदत्त और बालचरित में भी मिला है, जिससे पिशेल के मत के अनुसार ये दोनों भी दंडीकृत कहे जायँगे। यह कुतर्क मात्र है। यह श्लोक दो अन्य कवियों के नाम से दो संग्रहों में मिला है, जिसका अन्यत्र उल्लेख हो चुका है। डा० जैकोबी

तथा पिटर्सन 'छंदोविचिति' को तीसरी रचना बतलाते हैं पर वास्तव में यह किसी ग्रंथ का नाम न होकर एक विद्या मात्र है जैसा कि दंडी ने स्वयं 'सा विद्या नौ र्विवक्षूणां' में लिखा है। अर्थशास्त्र में यह शब्द आया हुआ है। कला परिच्छेद को कुछ लोग इनकी तीसरी रचना मानते हैं पर यह ग्रंथ स्वतंत्र रूप में लिखा गया या नहीं, यह अभी तक निश्चयतः ज्ञात नहीं हुआ है।

इधर लोग तीसरे ग्रंथ के अन्वेषण में लगे हुए थे कि त्रिवेदी जी तथा अगाशे महाशय ने दशकुमारचरित के दंडीकृत होने में शंका उठाई। इन लोगों का कथन है कि काव्यादर्श के रचयिता चरित के भी रचयिता इस कारण नहीं हो सकते कि चरित में कुछ अश्लील वर्णन आए हुए हैं तथा एक में बतलाए गए अनेक दोष दूसरे में वर्तमान हैं। सत्य ही दंडी कहते भी हैं कि 'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन' तब उस हालत में वे ही अपनी रचना में दोष कैसे आने देंगे। पर यह विचारणीय है कि दंडी ने किस ग्रंथ की रचना पहिले की थी। दशकुमार की रचना होने के अनंतर काव्यादर्श का लिखा जाना विशेष संभव है। दूसरे 'परोपदेशेपांडित्यं' विशेष दिखलाया जाता है। लक्षण, परिभाषा आदि देने में जितनी सूक्ष्मता काम में लाई जाती है उतनी काव्यरचना के समय नहीं ध्यान में आती। आचार्यत्व तथा कवित्व में यह भिन्नता सर्वदा रहेगी। यह भी कहा गया है कि एक में समासबाहुल्य है और दूसरे में वैसा नहीं है तथा काव्यादर्श की शैली सरल तथा लालित्यपूर्ण है। यह कथन भी आधाररहित कहा जा सकता है क्योंकि एक ग्रंथ गद्य में तथा दूसरा पद्य में है। पद्य में समास बाहुल्य को दंडी ने स्वयं दोष बतलाया है और गद्य में 'ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्' कहा है।

दक्षिण भारत में भोजराजकृत शृंगारप्रकाशिका नामक एक बृहत् ग्रंथ मिला है, जो अलंकारविषयक है। इसमें दंडी के 'द्विसंधान' नामक काव्य से एक श्लोक उद्धृत है, जो इस प्रकार है —

उदारमहिमारामः प्रजानां हर्षवर्धनः ।
धर्मप्रभव इत्यासीत् ख्यातो भरतपूर्वजः ॥

धनंजय कवि का 'द्विसंधान' काव्य प्रकाशित हो चुका है पर दंडी कृत काव्य का केवल यही एक श्लोक मिला है। इसी प्रकार दक्षिण ही में दो अन्य ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियां मिली हैं जिनमें एक अपूर्ण है और जिसके रचयिता का उस प्रति से पता नहीं लगता। इस ग्रंथ के आरम्भ में श्लोकों में कुछ प्राचीन कवियों का उल्लेख हुआ है। शेष ग्रंथ गद्य में लिखा गया है। दूसरा ग्रंथ श्लोकबद्ध है जिसके छ परिच्छेद पूर्ण प्राप्त हैं और सातवें से ग्रंथ खंडित है। इसके रचयिता का भी नाम नहीं दिया है। ग्रंथ का नाम अवंति-सुन्दरी कथा सार दिया है। सर्गांत में सर्वदा आनंद शब्द का प्रयोग हुआ है और ऐसा प्रयोग शूद्रक-कथा के प्रणेता पंचशिख ने अवश्य किया है। यह ग्रंथ पहिले ग्रंथ का पद्यमय संक्षेप ज्ञात होता है और इसी के आधार पर पहिले का दंडीकृत होना निश्चित किया गया है। पहिले सर्ग में दंडी के पूर्वजों का इतिवृत्त दिया हुआ है, जिसकी अलग विवेचना की गई है। अवंतिसुंदरी कथा तथा दशकुमार के पूर्वार्ध की वर्णित कथा प्रायः समान है और एक को दंडीकृत मानने पर दूसरे को उन्हीं की कृति मानने में कुछ संदेह होता है। कथा तथा कथासार दोनों के अनुसार अवंतिसुंदरी कथा का दंडीकृत होना निश्चित है और तब दशकुमारचरित का दंडी कृत न होना मानना पड़ेगा। इस प्रकार काव्यादर्श तथा अवंतिसुंदरीकथा दो ग्रंथ दंडी कृत निश्चित हैं और तीसरे द्विसंधान काव्य के प्राप्त होने पर 'त्रयो दंडिप्रबंधाश्च' पूरे हो जायँगे। यह भी हो सकता है कि दंडी ने तीन से अधिक ग्रंथ बनाए हों और उनमें से केवल तीन ही के विशेष प्रसिद्ध होने से राजशेखर ने उक्त श्लोक रच डाला हो। दशकुमारचरित के दंडीकृत न होने का अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिला है और इसलिये अभी कुछ निश्चयतः नहीं कहा जा सकता।

दंडी का समय ।

इस प्रकार भामह तथा दंडीविषयक वादविवाद, ग्रन्थ में उल्लिखित बातें तथा रचनाओं का विवरण सब दिया जा चुका है और इनसे दंडी के समय निर्धारण में जो कुछ सहायता मिल सकती थी, उसका विवेचन भी हो चुका। अब जिन अन्य साधनों से इनका समय निर्धारित किया जा सकता है, उन पर विचार किया जायगा।

नाटककार राजशेखर ने दंडी का दो बार उल्लेख किया है। पहिला श्लोक इस प्रकार हैं—

भासो रामिलसोमिलो वररुचिः श्री साहसाङ्क कवि—
मेंण्ठो भारविकालिदासतरलाः स्कंधः सुबंधुश्चयः ।
दण्डी बाणदिवाकरौ गणपतिः कान्तश्च रत्नाकरः
सिद्धा यस्य सरस्वती भगवती के तस्य सर्वेऽपिते ॥

दूसरा श्लोक—

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः ।
त्रयो दंडिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥

[राजशेखर-कृत सुभाषितहारावली ग्रंथ]

राजशेखर का समय भी संस्कृत साहित्येतिहास के नियमानुसार संदिग्ध ही है। उन्होंने अपने सट्टक कर्पूरमंजरी में रघुकुलचूडामणि कान्यकुब्जेश्वर महेन्द्रपाल उपनाम निर्भय नरेंद्र का अपने को उपाध्याय होना बतलाया है। बालभारत की प्रस्तावना में राजशेखर ने लिखा है कि विद्धशालभंजिका नाटिका का अभिनय 'महोदय महानगर' में हो रहा है और जहाँ के राजा रघुवंशमुक्तामणि आर्यावर्त महाराजाधिराजेन श्रीनिर्भय नरेंद्रनन्दन श्रीमहीपालदेव हैं। ये दोनों महेन्द्रपाल निर्भय नरेंद्र तथा महीपाल कन्नौज के प्रतिहार वंशीय राजे थे। इन दोनों के

समय के कई शिलालेख-तथा ताम्रपत्र मिले हैं जो वि० सं० ९५०-९७५ तक के हैं। विद्धशालभजिका की प्रस्तावना में श्रीयुवराजदेव की राज सभा का उल्लेख है, जिसका मंत्री भागुरायण था। नाटिका के चौथे अंक में यही भागुरायण सेनापति के पत्र को पढ़कर राजा कर्पूरवर्ष को सुनाता है। इस पत्र के आरम्भ ही में त्रिपुरी के राजा कर्पूरवर्ष को प्रणाम लिखा गया है, जिससे श्री युवराजदेव और कर्पूरवर्ष एक ही राजा के द्योतक ज्ञात होते हैं। त्रिपुरी के हैहयवंशीय राजाओं में श्रीयुवराजदेव प्रथम ही केयूरवर्ष कहलाते थे। इनके समय का कोई लेख नहीं मिला है। खजुराहो के लेख से यह चंदेलराज यशोवर्मा के समकालीन ज्ञात होते हैं। इनके पौत्र युवराजदेव द्वितीय के बिल्हारी के शिलालेख में युवराज देव प्रथम के प्रपितामह कोकल्लदेव से इतिवृत्त दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि कोकल्लदेव ने प्रतिहार राजा भोजदेव की सहायता की थी। यह भोजदेव महेन्द्रपाल के पिता और महीपाल के पितामह थे। इस प्रकार युवराज देव कर्पूरवर्ष भी महीपाल का समकालीन हुआ। पूर्वोक्त विचारों से यह निश्चित है कि राजशेखर का रचनाकाल सं० ९५०-९७५ वि० तक या दशवीं शताब्दि का उत्तरार्द्ध रहा होगा।

इस प्रकार राजशेखर का समय निश्चित हो जाने से यह भी निर्धारित हो गया कि दंडी इनके समय से पहिले हुए हैं। प्रथम श्लोक में उल्लिखित सभी अन्य कवि सातवीं शताब्दि के पहिले के हैं, जिससे भी दंडी का राजशेखर से दो तीन शताब्दि पहिले होना ज्ञात होता है।

शार्गंधर पद्धति आदि संग्रह ग्रन्थों में यह श्लोक मिलता है—

नीलोत्पल-दलश्यामां विज्जकां मामजानता ।
वृथैव दंडिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥

[शार्ङ्ग० १८०]

काव्यादर्श के प्रथम श्लोक के चतुर्थ चरण को लेकर विज्जका नाम की किसी कवियित्री ने यह आत्मश्लाघापूर्ण श्लोक कहा है। इस कवियित्री के श्लोक मम्मट तथा मुकुलभट्ट ने उद्धृत किए हैं। मुकुल सं० ९७५ वि० के लगभग उपस्थित थे, जिनके पहिले विज्जका अवश्य हुई होंगी। दंडी और भी पूर्ववर्ती रहे होंगे। राजशेखर लिखता है—

सरस्वतीव कार्णाटी विजयांका जयत्यसौ।
या विदर्भगिरां वासः कालिदासादनंतरम् ॥

[शार्ङ्ग० १८४]

इस श्लोक की विजया भी सरस्वती के समान कही जा रही है, जो कर्णाट देश की रहनेवाली है। यही विज्जका भी हो सकती है, क्योंकि दोनों ही दाक्षिणात्य हैं। चालुक्यवंशीय महाराज पुलकेशी द्वितीय की पुत्रवधू तथा चन्द्रादित्य की स्त्री का भी विजय भट्टारिका नाम था, जिनका उल्लेख कई ताम्रपत्रों में हुआ है और जिससे इनका समय सन् ६६० ई० आता है। इन्हीं पुलकेशी द्वितीय के भाई कुब्ज विष्णुवर्द्धन थे, जिन्होंने सं० ६६४ वि० के लगभग भाई से अलग होकर तथा वेंगी के सालंकायण राजवंश को परास्त कर अपने लिये वहाँ स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था। यदि विज्जका यही विजयभट्टारिका है तो उनका सातवीं विक्रमाब्द शताब्दि के अन्त में और आठवीं के आरम्भ में होना निश्चित है।

इन विज्जका के श्लोक का तात्पर्य यह है कि 'नीले कमलपत्र के समान श्याम वर्ण वाली मुझ विज्जका को न जानने ही से दंडी से यह वृथा कहा गया कि सरस्वती सर्वशुक्ला है।' इससे यह ध्वनि भी निकलती है कि दोनों एक दूसरे से परिचित नहीं थे पर समकालीन थे। जैसा आगे लिखा जायगा दोनों ही दक्षिण के निवासी थे और दंडी के प्रपितामह महाकवि भारवि पुलिकेशी के भाई विष्णुवर्धन के दरबार में

रहते थे। दंडी विज्जका से छोटे हो सकते हैं और हो सकता है कि उनके ऐसी प्रसिद्ध विदुषी रानी को इन्होंने अपनी रचना देखने को भेजी हो तथा पहिले ही श्लोक पर उसने व्यंग्य से यह श्लोक रच डाला होगा।

सिंघाली भाषा के अलंकार ग्रन्थ 'सियवसलकर (स्वभाषालंकार) की रचना काव्यादर्श के आधार पर हुई है। ग्रन्थकर्त्ता ने दूसरे ही श्लोक में दंडी को आचार्य तथा अपना आधार माना है। इसके प्रणेता राजसेन प्रथम का समय महावंश के अनुसार ८४६ से ८६६ वि० सं० तक है। दंडी का समय इससे अवश्य ही पहिले रहा होगा।

कन्नडी भाषा का एक अलंकार ग्रंथ 'कविराजमार्ग' भी काव्यादर्श के आधार पर लिखा गया है, जिसके कुछ उदाहरण ज्यों के त्यों अनूदित करके ले लिए गए हैं और कुछ घटा बढ़ा कर लिये गए हैं। इस ग्रंथ के लेखक नृपतुंग अमोघवर्ष राष्ट्रकूट का राज्यकाल सन ८१५-८७७ ई० तक है, जिसके पूर्व दंडी हुए होंगे।

रुद्रट के काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु ने दंडी का उल्लेख किया है। इसने यह टीका सं० ११२५ वि० में लिखी थी। इसके उल्लेख की विशेष आवश्यकता नहीं, क्योंकि दंडी के समय की अंतिम सीमा नवीं शताब्दि का पूर्वार्धं पूर्वोक्त विचारों से निश्चय किया जा चुका है। अब पूर्व की सीमा का विचार करना आवश्यक है।

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवांजनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गताः॥

उक्त श्लोक मृच्छकटिक नाटक में वर्षावर्णन में आया है। इसका अर्धांश लेकर दंडी ने दो इव होने के कारण उसमें उपमा न होकर उत्प्रेक्षा अलंकार है, यह तर्क किया है। पिशेल महाशय ने इस श्लोक के कारण मृच्छकटिक को दंडीकृत मान लेना ठीक समझा था पर यह श्लोक भासकृत चारुदत्त तथा बालचरित में भी मिलता है। शार्ङ्गधर (३६०३)

में यह भर्तृमेंठ कृत तथा वल्लभदेव (१८९०) में विक्रमादित्य कृत माना गया है। इन कारणों से पिशेल का वह मत अमान्य हो गया है। दंडी ने द्वितीय परिच्छेद में पहिली बार श्लोक २२१ में इस श्लोक का पूर्वार्ध उद्धृत किया है और दूसरी बार पूरा श्लोक सं० ३६२ पर उद्धृत कर संकीर्ण का उदाहरण दिया है। पहिले उद्धरण में अंत का इति शब्द भी स्पष्ट कह रहा है कि वह किसी दूसरे की कीर्ति है। पूरा श्लोक कुछ प्रतियों में नहीं मिलता और कुछ में मिलता है।

वाणभट्ट कृत कादंबरी में शुकनास के उपदेश का कुछ अंश (पृ० १०२. १. १६ सं० बी. एस. एस.) दंडी द्वारा इस प्रकार श्लोकबद्ध किया गया है—

अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः ।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः ॥

इस भाव-साम्य के कारण कुछ विद्वानों ने पूर्वोक्त कथन को मान लिया है और अतः दंडी वाणभट्ट (६०६-६४७) के वाद हुए हैं, ऐसा स्वीकार किया है।

महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध श्लोकांश-मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति-से दंडी ने 'लक्ष्म लक्ष्मीं नोतीति तत्प्रतीतिसुभगं वचः' में उद्धरण लिया है, अतः दंडी का कालिदास के वाद होना निश्चित है।

डा० जैकोबी ने शिशुपालवध के द्वितीय सर्ग के चौथे श्लोक तथा काव्यादर्श (२. ३०२) में भावसाम्य स्थापित किया है। माघ का श्लोक इस प्रकार है—

रत्नस्तंभेषु संक्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे ।
एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव ॥

दंडी ने द्वितीय परिच्छेद के श्लोक २४० में कर्म के तीन भेद-निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य-किए हैं, जो भर्तृहरि के वाक्यप्रदीप (३. ४५) से लिये गए हैं, ऐसा पाठक जी का मत है। वाणभट्ट, माघ तथा भर्तृहरि

तीनों ही प्रायः सातवीं शताब्दि के पूर्वार्ध में हुए हैं। इन तीनों भाव-साम्य के कारण कुछ निश्चय रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता है। ये तीनों कविगण दंडी के पूर्व हुए थे या दंडी इन लोगों के पूर्व हुए थे इसका निश्चय करना पूर्वोक्त साम्य से कठिन है। या यों कहा जाय कि वे इसके लिये अकाट्य प्रमाण नहीं हो सकते।

जीवनवृत्तांत

महाकवि दंडिन के जीवनसंबंधी वृत्त का अभी तक कुछ भी पता नहीं था। केवल काव्यादर्श के कुछ अंतरंग बातों को लेकर यह निर्धारित किया गया था कि वे दक्षिण के निवासी थे। कांची, कावेरी, चोल, कलिंग, अवंती, मलयानिल आदि सभी स्थानादि दक्षिण के ही हैं। परि० १ श्लोक ५ के 'न स्वयं पश्य नश्यति' और परि० २ श्लोक १७२ 'पश्य गच्छत एवास्तं नियतिः केन लंघ्यते' से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि दंडी ने किसी दक्षिणात्य राजकुमार को पढ़ाने के लिये इस ग्रंथ की रचना की होगी। एक सज्जन का कथन है कि 'पश्य नश्य' अनुप्रास के कारण लिखा गया है पर यह कथन दूसरे उद्धरण के लिये उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। यदि दंडी ने वैसा किया ही हो तो उसमें आश्चर्य या असंभाव्य कुछ भी नहीं है।

जिस नवप्राप्त अवंतिसुन्दरी कथा तथा अवंतिसुंदरी कथासार ग्रंथों का ऊपर उल्लेख हो चुका है, उन दोनों से दंडी के विषय में कुछ बातें ज्ञात हुई हैं, जिसका यहाँ उल्लेख किया जाता है। नारायण स्वामी के पुत्र किरातार्जुनीयकार महाकवि भारवि (नाम दामोदर) के तीन पुत्र हुए, जिनमें मँझले पुत्र का नाम मनोरथ था। इनको चार पुत्र थे जिनमें सबसे छोटे का नाम वीरदत्त था। इनकी स्त्री का नाम गौरी था। ये ही दोनों दंडी के माता पिता थे, जो इन्हें अल्पावस्था ही में छोड़कर मर गए। यह कांची में इस प्रकार अनाथ हो रहे थे कि वहाँ विप्लव उपस्थित हुआ, जिससे यह कुछ दिन के लिए वहाँ से भागकर बनवास करते रहे।

अंत में शांति स्थापित होने पर पल्लवराज की सभा में आकर रहने लगे।

पूर्वोक्त बातों से यह निश्चय हो गया कि दंडी महाराज भारवि के प्रपौत्र थे और प्रपितामह का समय निश्चित हो जाने से इनका समय भी ठीक ठीक निर्धारित किया जा सकता है। भारवि का सबसे पहिला उल्लेख सन् ६३४ ई० के ऐहोल शिलालेख में मिलता है जो चालुक्य-वंशीय पुलकेशी द्वितीय का है। श्लोक यों है—

येनायोजि न वेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रित कालिदास भारवि कीर्तिः॥

इससे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि भारवि की कीर्ति सातवीं शताब्दि के पूर्वार्ध में खूब फैल चुकी थी और यह इसके बहुत पहिले भारत की शोभा वृद्धि कर चुके थे। पश्चिमीय गंगावंशीय राजा दुर्विनीत के एक शिलालेख से यह पता चलता है कि 'किरातार्जुनीये पंचदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन।' अर्थात् किरात के सब से कठिन पंद्रहवें सर्ग की टीका इसी राजा ने किया था, जिसके पहिले या समय तक भारवि की उपस्थिति स्वीकार की जा सकती है। इन मरकारा शिलालेखों पर कुछ विद्वानों का विश्वास भी नहीं है, इसलिये इनसे कुछ सिद्ध न हुआ समझना चाहिये।

पूर्वोक्त अवंतिसुंदरी कथासार से पता चलता है कि भारवि के पूर्वज पश्चिमोत्तर प्रदेश के आनन्दपुर नामक स्थान से आकर नासिक के अंतर्गत अचलपुर में बस गए। इन कौशिक गोत्रीय ब्राह्मणवंश में नारायण स्वामी हुए जिनके पुत्र भारवि (दामोदर) थे। इन्होंने नरेंद्र विष्णुवर्धन से मैत्री की और उनके आश्रय में रहने लगे। कुछ समय बीतने पर इनको अहेर में खाद्य वस्तुओं के अभाव में मांस खाकर राजा के हठ करने पर प्राणरक्षा करना पड़ा तब यह इनके यहाँ से पश्चिमीय गंगावंशीय राजा दुर्विनीत के यहाँ जाकर वहीं कुछ दिन रहे। इसके अनन्तर भारवि कांची के पल्लव नरेश सिंहविष्णु के बहुत आग्रह करने

पर उनके आश्रय में जा रहे और वहीं अन्त तक रहे । इस प्रकार ज्ञात हुआ कि भारवि तीन राजाओं–नरेन्द्र विष्णुवर्धन, दुर्विनीत तथा सिंहविष्णु के समकालीन थे ।

दक्षिण के इतिहास में पुलकेशी द्वितीय के भाई कुब्ज विष्णुवर्धन प्रसिद्ध हो गए हैं । सन् ६११ ई० में पुलकेशी ने वेंगी प्रान्त विजय कर वहाँ अपने इसी भाई विष्णुवर्धन को शासक बनाया था। चार ही पाँच वर्ष बाद यह स्वतंत्र राजा हो गया और पूर्वीय चालुक्य राज्य स्थापित किया, जो सन् १०८० ई० में चोला राज्य में मिला लिया गया था । इसलिये 'नरेन्द्र विष्णुवर्धन' से यही ध्वनि निकलती है कि भारवि इसके स्वतंत्र राजा होने तक उसके पास अवश्य रहे, पहिले चाहे जब से रहे हों ।

पल्लव राजवंश यद्यपि पहिले से चला आ रहा था पर उसके प्रसिद्ध राजाओं में पहिला सिंहविष्णु था, जिसकी राजगद्दी का समय सन् ५७५ ई० निश्चित है । इसके पुत्र महेन्द्र वर्मा ने सन् ६००–६२५ ई० तक राज्य किया, जिसने स्वयं मत्तविलास नामक प्रहसन रचा था । इस का पुत्र सुप्रसिद्ध नरसिंह वर्मा हुआ, जिसने पुलकेशी द्वितीय को परास्त कर दक्षिण में अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित किया था । बादामी के एक शिला लेख में इसका नाम विष्णु, सिंहविष्णु और नृसिंह विष्णु भी लिखा है । भारवि इसी नृसिंह वर्मा प्रथम के आश्रय में कांची में रहे होंगे क्योंकि प्रथम सिंहविष्णु तो सन् ६०० ई० में कालकवलित हो ही चुका था और वह विष्णुवर्धन तथा दुर्विनीतराय के यहाँ रहने के अनन्तर पल्लव राज के यहाँ आये थे । इस नृसिंहविष्णु ने सन् ६२५–६४५ ई० तक राज्य किया था ।

राजा दुर्विनीत पश्चिमीय गंगा वंश के थे, जो बड़े विद्या प्रेमी और विद्वान थे । इसने शब्दावतार नामक व्याकरण लिखा था तथा गुणाढ्य रचित बृहत्कथा का पैशाची से संस्कृत में भाषांतर किया था । इसने किरात के पँद्रहवें सर्ग की सुबोध टीका भी किया है । भारवि के सहवास

में इसने, ज्ञात होता है कि, इस श्लेष प्रधान सर्ग का मनन किया होगा, जिससे इसी क्लिष्टतम सर्ग की टीका लिख डाली है। राजा दुर्विनीत के यहाँ यह सन् ६२० से ६३० ई० के बीच कुछ वर्षों तक रहे होंगे।

पूर्वोक्त विवेचना से यह निश्चय हो जाता है कि कविवर भारवि लगभग सन् ६१० ई० से सन् ६४५ ई० तक इन तीनों महाराजों के दरबार की शोभा बढ़ाते रहे थे। विष्णुवर्धन के दरबार में पहुँचने के समय यदि इनकी अवस्था तीस पैंतीस वर्ष की मान ली जाय तो इनका जन्म काल सन् ५७५ ई० के लगभग आता है और इनका कविताकाल सातवीं शताब्दि के पूर्वार्ध का प्रथमांश रहा होगा। यदि इनकी मृत्यु साठ वर्ष की अवस्था प्राप्त होकर हुई रही होगी तो इन्होंने अवश्य ही अपने पौत्रों का मुख देखा रहा होगा, जिनमें से कुछ आठ दस वर्ष तक के रहे होंगे। इस प्रकार हिसाब करने से दंडी का जन्मसंवत् ६५० ई० के लगभग आता है।

नरसिंह वर्मा प्रथम के पुलकेशी द्वितीय को परास्त कर वातापी लेने के तेरह वर्ष बाद सन् ६५५ ई० में विक्रमादित्य प्रथम चालुक्य ने परमेश्वर वर्मा पल्लव को परास्त कर कांची पर कुछ दिन केलिये अधिकार कर लिया था। इसके बाद दूसरी बार सन् ७४० ई० में चालुक्य वंश का कांची पर अधिकार हुआ था। यह पहिले ही ज्ञात हो चुका है कि महाकवि दंडी अल्पावस्था में कांची में विप्लव होने पर जंगल चले गए थे। इस हिसाब से सन् ६५५ ई० के विप्लव के समय उनकी अवस्था पाँच छ वर्ष की रही होगी। इन सब विचारों में कुछ भी विप्रति-पत्ति नहीं मिलती और इससे यही धारणा होती है कि इन सब में सत्य ही का अंश अधिक है।

अवंतिसुंदरी कथा की भूमिका में दंडी ने सुबंधु, भास, बाण, मयूर आदि जितने कवियों का उल्लेख किया है वे सभी इनके समय के पहिले के हैं और इससे दंडी के समय की पुष्टि होती है। अवंतिसुंदरी कथा में वर्णित घटनाओं का संक्षिप्त आख्यान दशकुमारचरित में राजवाहन-अवंतिसुंदरी-परिणय नाम से दिया गया है। बाण की

पूर्वार्ध कादंबरी की आख्यायिका के अनुसार कथा का भी आख्यान है पर उत्तरार्ध दंडी की निजी कल्पना है, जो बाण के सुपुत्र से भिन्न है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि कादंबरी का उत्तरार्ध इन्होंने स्यात् नहीं देखा था और इसीसे कादंबरी कथा पूरी लिखने को अवंती सुन्दरी कथा की रचना की थीं अर्थात् दोनों के समय में विशेष फर्क नहीं था।

पूर्वोक्त विचारों से यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सातवीं शताब्दि का उत्तरार्ध तथा आठवीं का प्रारम्भ दंडी का समय था। इनका रचनाकाल सन् ६७५ ई—७१० ई० तक रहा होगा। इनके नाम के विषय में एक दंत कथा है कि दशकुमार चरित के आरम्भ में दिये गए इनके एक श्लोक 'ब्रह्मांडच्छत्रदंडः शतधृतिभवनाम्भोरुहो नाल दण्ड' आदि में दंड शब्दावृत्ति के कारण लोगों ने 'इयंदंडी' कहना आरम्भ कर दिया, जिससे बाद को यह इनका उपनाम हो गया।

दंडी जी दार्शनिक भो थे, ऐसा श्री माध्वाचार्यकृत संक्षेप-शंकरजय नामक वेदान्त ग्रंथ से ज्ञात होता है। उसमें एक श्लोक इस प्रकार है—

स कथाभिरवन्तिषु प्रासिद्धान् विबुधान् बाणमयूरदंडिमुख्यान् ।
शिथिलीकृतदुर्मतात्रिमानांन् निजभाष्यश्रवणोत्सुकांश्चकार ॥

इसका तात्पर्य इतना ही है कि बाण, मयूर और दंडी को श्री शंकराचार्य्य ने परास्त किया था। इतिहास की दृष्टि से इन तीनों का श्री शंकराचार्य के समय में होना असंभव है इसलिये इस सामयिक वैपरीत्य के होते हुए भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये तीनों उस समय तक दार्शनिक प्रसिद्ध थे और इस कारण उनका पराजय दिखलाया जाकर शंकराचार्य का माहात्म्य प्रकट किया गया है।

४. ग्रंथ परिचय

काव्यादर्श अत्यंत लोकप्रिय रीति ग्रंथ है और इसलिये इसके अनेक अच्छे २ संस्करण निकल चुके हैं। इनमें एक संस्करण सन् १८६३ ई०

का है जो प्रेमचंद्र तर्कवगीश की टीका के साथ कलकत्ते से प्रकाशित हुआ था। मंदराज से आचार्य रंगाचार्य ने दो टीकाओं के साथ इसे सन् १९१० ई० में प्रकाशित किया। इसके बाद शास्त्री रंगाचार्य्य रड्डी तथा डाक्टर वेलवल्कर ने पूना से प्रकाशित कराया। डा० साहब के संस्करण में केवल मूल अंग्रेज़ी अनुवाद सहित दिया गया है। कलकत्ते के विद्वान जीवानंद विद्यासागर बी० ए० ने अपनी टीका विवृत्या के साथ काव्यादर्श को प्रकाशित किया है। इन्हीं अंतिम दो संस्करणों के आधार पर इस हिंदी संस्करण का संपादन किया गया है। प्रायः सभी संस्करणों में तीन परिच्छेद हैं पर प्रो० रंगाचार्य ने अंतिम परिच्छेद का दो भाग कर चार परिच्छेद कर दिये हैं। उन्होंने काव्य दोप को अलग कर दिया है। कलकत्ते के संस्करणों में ६६० श्लोक हैं पर मंदराज वाले संस्करण में तीन श्लोक अधिक हैं। तीसरे परिच्छेद के अंत में दो और चौथे के आरम्भ में एक श्लोक अधिक है। तीसरे ही में एक श्लोक 'आधिव्याधि......समाचरेत्' १६० के बाद अधिक है पर उस के बदले में द्वितीय में 'लिम्पतीव......गता' नहीं दिया गया है।

प्रथम परिच्छेद में काव्य की परिभाषा, उसके भेद, सर्गबंध का विवरण, गद्य के भेद, कथा और आख्यायिका की भिन्नता न मानना तथा उनका विवरण, भाषाभेद, वैदर्भी तथा गौड़ी शैलियाँ, अनुप्रास, दशगुण और अंत में कवित्व के तीन साधन प्रतिभा, पठन, अभ्यास का वर्णन किया गया है। दूसरे परिच्छेद में अलंकार की परिभाषा तथा पैंतीस अलंकारों का विवरण दिया गया है। तीसरे परिच्छेद में ७७ श्लोक में यमक का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है और १८ श्लोक में चित्र-बंध, २९ श्लोक में प्रहेलिका तथा ६३ श्लोक में दोषों का विवेचन किया गया है।

काव्यादर्श में दंडी ने अलंकार ही को विशेष प्राधान्य दिया है पर रीतियों के विषय में भी बहुत कुछ कहा है। रसप्राधान्य विषय को दंडी अवश्य जानते थे। वे लिखते हैं—मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसः

स्थित: और कामं सर्वोप्यलंकारः रसमर्थे निषिञ्चति । अर्थात् वे अलंकार को रस संचार का साधन कहते हैं । वे आठों रसों तथा उनके स्थायि भावों को भी जानते हैं । तिसपर भी वे अलंकार ही को सब कुछ समझते रहे और रसवत् को एक अलंकार माना है । इन्होंने गुणों को भी अलंकार माना है, कहते हैं—काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः । दंडी ने ध्वनि को प्राधान्य तो अवश्य नहीं दिया है पर 'अतिशयोक्ति' की विशेषता को माना है । 'असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा ।' तात्पर्य यह कि दंडी ने अलंकारों ही को काव्य का सर्वे सर्वा माना है तथा रीति की भी विशेषता को स्वीकार किया है ।

दंडी ने काव्यादर्श में सभी उदाहरण स्वरचित दिये हैं, केवल दो तीन दूसरों के पाए जाते हैं । इनके अन्य के होने का पता वह स्वयं 'इतीदमपि' आदि देकर दे देते हैं और ऐसे श्लोकों का उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है । इनकी कविता का पदलालित्य तो प्रसिद्ध ही है और प्रथम परिच्छेद में जिन गुणों की व्याख्या किया है उनमें से प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति तथा कांति विशेषतः तथा अन्य भी सभी मौजूद हैं । भामह तथा दंडी की प्रतिद्वंद्विता प्रसिद्ध है अतः यहाँ भी देखा जाता है कि काव्य-गुणों में यदि इन दोनों की तुलना की जाय तो दंडी ही बढ़कर निकलेंगे । हां, तर्कशक्ति, विवेचनबुद्धि आदि में प्रथम ही बढ़े चढ़े हैं ।

अलंकार ग्रंथों की यदि उनकी लोकप्रियता, उपादेयता तथा सरलता की दृष्टि से जाँच की जाय तो उनमें काव्यादर्श का स्थान बहुत ऊँचा रहेगा । वास्तव में यह ग्रंथ कवि-कुल-कंठाभरण कहा जा सकता है और यह यथा नाम तथा गुणाः संपन्न पुस्तक है ।

८. संस्कृत साहित्येतिहास में दंडी का स्थान

यह दिखलाया जा चुका है कि दंडी की रचनाएँ कितनी लोक प्रिय थीं और वे स्वयं आलंकारिकों तथा कवियों द्वारा कितनी आदर की दृष्टि

से देखे जाते थे। यही कारण है कि आज भी इनकी रचनाएँ विद्यार्थियों तथा विद्वानों द्वारा पढ़ी और मनन की जाती हैं। अन्य प्राचीन आलंकारिक गण इन दंडी के काव्यादर्श के कहां तक ऋणी हैं, इसे दिखलाने के लिये समय और परिश्रम ईप्सित है। संक्षेप में लक्षण ग्रंथों का ऐतिहासिक विवेचन किया जा चुका है और उससे ज्ञात हो जाता है कि उसमें दंडी का कितना ऊँचा स्थान है। काव्यादर्श में जिन जिन विषयों पर उन्होंने लिखा है उनका पूर्णरूपेण मनन किया है। प्राचीन आचार्यों के वक्तव्य परिशीलन किये हैं तथा अपनी तार्किक बुद्धि पर ज़ोर डाला है और अंत में सुगठित सरल परिभाषाएँ दी हैं। उदाहरणों में इनकी कवित्व शक्ति पूरी तौर पर विकसित हुई है और आचार्य पद प्राप्त करते हुए भी यह संस्कृत के महान् कवियों में गिने जाते हैं। यह दार्शनिक विद्वान थे और इनकी व्याकरण, तर्कशास्त्र आदि अनेक विषयों की योग्यता बढ़ी चढ़ी थी। यह श्लिष्ट सुष्ठु गद्य के अद्वितीय लेखक थे, जिनकी लेखनी से दशकुमारचरित तथा अवंतिसुंदरी कथा प्रस्तुत हुई हैं। तात्पर्य यह कि संस्कृत-साहित्य में इनका स्थान अजर-अमर है और इनका नाम सदा वाल्मीकि व्यास, कालिदास, भारवि आदि के साथ आदर से लिया जायगा।

६. उपसंहार

हिन्दी साहित्य में काव्य ग्रंथ लिखने की परंपरा कृपाराम की हित तरंगिणी से आरम्भ होती है और यद्यपि इन में केशव, यशवंत सिंह दास, गिरिधर दास आदि अनेक आचार्य हुए पर उन में दो एक को छोड़ सभी आचार्यत्व को गौण तथा कवित्व को प्रधान मानकर चले हैं। यही कारण है कि काव्य के सभी अंग प्रत्यंग का ज्ञान प्राप्त करने के लिये साहित्यसेवियों को संस्कृत ग्रंथों ही का आसरा लेना पड़ता है। संस्कृत में बहुत से उद्भट आचार्य हो गए हैं पर न सबकी रचनाओं का परिशीलन साध्य है और न ध्येय है। आधुनिक हिन्दी साहित्य मर्मज्ञों की विवेचना के लिए कुछ प्राचीन तथा कुछ अर्वाचीन संस्कृत-ग्रंथों का हिंदी

में अनुवाद होना आवश्यक है। साहित्यदर्पण, रसगंगाधर, चन्द्रालोक आदि कई ग्रंथों का अनुवाद हिन्दी में सुलभ हो गया है पर अब तक किसी प्राचीन आचार्य के ग्रंथ का अनुवाद नहीं हुआ था। इसी कमी को पूरी करने की इच्छा से दंडीकृत काव्यादर्श का यह अनुवाद साहित्य प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

इस संस्करण में संस्कृत मूल तथा हिन्दी अनुवाद आमने सामने पृष्ठों पर दिये गए हैं जिससे अलग अलग या मिलान करते हुए दोनों प्रकार पढ़ने में सुविधा हो। अनुवाद व्याख्यानात्मक नहीं किया गया है पर यथावसर आवश्यक समझकर सूचनाएँ श्लोकों के अनुवाद के बाद दे दी गई हैं, जिससे पाठकों को कुछ सुविधा रहे। अंत में श्लोकों की अनुक्रमणिका दे दी गई है। आरम्भ में एक भूमिका है, जिसमें कवि तथा ग्रंथपरिचय के सिवा संक्षेप में काव्य तथा लक्षण ग्रंथों का ऐतिहासिक विवेचन भी समाविष्ट है।

इस संस्करण के तैयार करने में जिन संस्करणों का आधार लिया गया है उनके सुयोग्य संपादकों का मैं विशेष आभारी हूँ। भूमिका लिखने में पं० रामकृष्ण कवि एम० ए० संपादित अवंति-सुंदरी कथा, विद्वद्वर पी० वी काणे के साहित्यदर्पण की भूमिका, डा० सुशील कुमार देका अलंकार ग्रंथों का इतिहास तथा अन्य कई ग्रंथों की सहायता ली गई है। नागरी प्रचारिणी पत्रिका में 'दंडी और अवंतिसुंदरी कथा' शीर्षक लेख का भी उपयोग किया गया है। इसलिये पूर्वोक्त सभी विद्वानों को तदर्थ धन्यवाद देता हूँ।

अस्तु, अब यह ग्रंथ इस रूप में हिन्दी साहित्य प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित है और आशा है कि वे इसे अपना कर मेरे परिश्रम को सार्थ करेंगे।

आषाढ़ी पूर्णिमा
१९८८

विनीत
व्रजरत्नदास

काव्यादर्शः

काव्यादर्श

१ परिच्छेद

चतुर्मुखमुखाम्भोजवनहंसवधूर्मम ।
मानसे रमतां दीर्घं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥ १ ॥
पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपलक्ष्य च ।
यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम् ॥ २ ॥
इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा ।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ॥ ३ ॥
इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ॥ ४ ॥
आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम् ।
तेषामसंनिधानेपि न स्वयं पश्य नश्यति ॥ ५ ॥
गौर्गौः कामदुघा सम्यक्प्रयुक्तास्मर्यते बुधैः ।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसाति ॥ ६ ॥
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन ।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥ ७ ॥
गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते नरः ।
किमन्धस्याधिकारोस्ति रूपभेदोपलब्धिषु ॥ ८ ॥
अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसंधाय सूरयः ।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम् ॥ ९ ॥

काव्यादर्श

१ परिच्छेद

चतुरानन-मुख-कमल-वन हंसी सम भ्रम जौन ।
मम मानस में नित रमै सेत सारदा तौन ॥ १ ॥
पूर्व शास्त्र को सार लै अरु प्रयोगनहि पेखि ।
काव्यलच्छना कीन्ह यह निज शक्तिहि अवरेखि ॥ २ ॥
बुधजन नियम प्रमान ही चहै अन्यथा होइ ।
गिरा-प्रसादहि होतु है लोकयात्रा सोइ ॥ ३ ॥
शब्द नाम्नो ज्योति जौ जगमगात जग नाहिं ।
तौ त्रिलोक अंधो रहत अंधकार के माँहि ॥ ४ ॥
दरपन बानी बिंब जस पूर्व नृपनु को चारु ।
रहत न तिनके, कीर्ति सो होत न नष्ट, विचारु ॥ ५ ॥
कामदुघा गो बुध कहहिं सुप्रयुक्त गो जानि ।
कुप्रयोग पै गोत्व × सों होत तासु सनमान ॥ ६ ॥
एहि कारन सत्काव्य में दोष अल्प नहिं होय ।
सु वपु हेय है, रहत ज्यों, कुष्ट चिन्ह इक दोय ॥ ७ ॥
किमि जानै दोषऽरु गुनहि, जेहि न शास्त्र को ज्ञान ।
रूप भेद नहिं कहि सकै, ज्यों अंधो बुधिमान ॥ ८ ॥
तासों बुधजन ने कियौ ज्ञान संचयन हेतु ।
विविध प्रकार सुकाव्य की रचना को यहि सेतु ॥ ९ ॥

× पशुत्वे ।

तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः ।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥ १० ॥
पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम् ।
पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ॥ ११ ॥
छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रबन्धो निदर्शितः ।
सा विद्या नौर्विविक्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम् ॥ १२ ॥
मुक्तकं कुलकं कोशः संघात इति तादृशः ।
सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः ॥ १३ ॥
सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ॥ १४ ॥
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम् ॥ १५ ॥
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ॥ १६ ॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः ।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ॥ १७ ॥
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसंधिभिः ॥ १८ ॥

काव्य के शरीर तथा अलंकार क्या होते हैं इसे उन्होंने (बुधजन) इस प्रकार बतलाया है। पदों के जिस समूह से इष्ट अर्थ निकले उसे शरीर कहते हैं॥ १०॥

इस शरीर के गद्य, पद्य तथा मिश्रित तीन भेद किए गये हैं। पद्यमें चार चरण होते हैं और ये पुनः दो प्रकार के होते हैं-वृत्त और जाति। उस (छंद) का पूरा वर्णन छंदोविचिति में दिया गया है। वह विद्या गंभीर काव्य-सागर में डुबकी मारने वालों के लिये नाव (के समान) है॥ ११-१२॥

काव्य के मुक्तक, कुलक, कोश और संघात विस्तृत भेद यहाँ नहीं कहे गये हैं क्योंकि वे सर्ग-बंध के अंश माने गये हैं॥ १३॥

सर्गबंध महाकाव्य है और अब उसका लक्षण कहा जाता है। इसका आरंभ आशीर्वाद, नमस्कार और कथा वस्तु के निर्देश से होता है॥ १४॥

यह किसी ऐतिहासिक कथा या किसी सत्य घटना के आधार पर निर्मित हो, चारों प्रकार के फल का देने वाला हो और इसका नायक चतुर तथा उदात्त हो॥ १५॥

इसमें नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चंद्र तथा सूर्य का उदय, उद्यान तथा जलक्रीड़ा, मधुपान और प्रेम का वर्णन हो॥१६॥

इसमें बिरह जनित प्रेम, विवाह, कुमारोत्पत्ति, मंत्र, राजदूतत्व, चढ़ाई, युद्ध और नायक का अभ्युदय वर्णित हो॥ १७॥

यह अलंकृत, विस्तृत तथा रस और भाव से पूर्णतया युक्त हो, इसका कोई सर्ग बहुत बड़ा न हो तथा इसमें श्रवणीय छंद और अच्छी संधियाँ हों॥ १८॥

सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम् ।
काव्यं कल्पोत्तरस्थायि जायते सदलंकृति ॥ १९ ॥

न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न दुष्यति ।
यद्युपात्तेषु संपत्तिराराधयति तद्विदः ॥ २० ॥

गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम् ।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः ॥ २१ ॥

वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि ।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः ॥ २२ ॥

अपादः पदसंतानो गद्यमाख्यायिकाकथे ।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल ॥ २३ ॥

नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा ।
स्वगुणाविष्क्रियादोषो नात्र भूतार्थशंसिनः ॥ २४ ॥

अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात् ।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदकारणम् ॥ २५ ॥

वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासत्वं च भेदकम् ।
चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसङ्गेन कथास्वपि ॥ २६ ॥

आर्यादिवत् प्रवेशः किं न वक्त्रापरवक्त्रयोः ।
भेदश्च दृष्टो लम्भादिरुच्छ्वासो वास्तु किं ततः ॥ २७ ॥

सर्वत्र सर्गों के अंतमें भिन्न छंदों से युक्त तथा लोकरंजन और अच्छे अलंकारों से विभूषित होने से यह काव्य कल्प से भी अधिक दिनों तक स्थायी होता है ॥ १९ ॥

पूर्व कथित किसी अंग के कम होने पर भी काव्य दूषित नहीं होता यदि विद्वानों को उसमें आये हुये गुणों की संपत्ति प्रसन्न करती है ॥ २० ॥

नायक के कुल गुणों का वर्णन करते हुये तथा उसी से उसके शत्रु के पराभव का वर्णन करना स्वभावतः सुंदर शैली है ॥२१॥

शत्रु के वंश, वीरता, विद्या आदि का पहिले वर्णन कर और उसे नायक द्वारा पराजित कर नायक का उत्कर्ष दिखलाना हमें अधिक पसंद है ॥ २२ ॥

यह पदावली, जिसमें चरण नहीं होते, गद्य है। गद्य के दो भेद होते हैं-आख्यायिका और कथा। उनमें आख्यायिका, इस प्रकार कहा जाता है ॥ २३ ॥

वह है जो केवल नायक द्वारा कहा जाय। दूसरा (कथा) वह है जो नायक या किसी अन्य द्वारा कहा जाय। सत्य घटना का कहने वाला होने के कारण अपना गुण कहना भी यहाँ दोष नहीं है ॥ २४ ॥

इस नियम का भी सर्वत्र पालन नहीं होता और अन्य भी उसमें (आख्यायिका में) भाग लेता है। वक्ता चाहे स्वयं हो वा कोई अन्य हो-यह भेद का कैसे कारण हो सकता है? ॥२५॥

यदि वक्त्र या अपर वक्त्र (छंद) और उच्छ्वासों में भाग करना आख्यायिका के चिन्ह हैं तो कथा में भी प्रसंग से वक्त्र या अपर वक्त्र (छंद) आर्या आदि के समान क्यों न हों? लंभ आदि भेद उसमें होते ही हैं, तो उच्छ्वास भी रहे। उसमें क्या (हर्ज) है? ॥ २६-२७ ॥

तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता ।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ॥ २८ ॥

कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयादयः ।
सर्गबन्धसमा एव नैते वैशेषिका गुणाः ॥ २९ ॥

कविभावकृतं चिह्नमन्यत्रापि न दुष्यति ।
मुखमिष्टार्थसंसिद्धौ किं हि न स्यात् कृतात्मनाम् ॥ ३० ॥

मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः ।
गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यपि विद्यते ॥ ३१ ॥

तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा ।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुराप्ताश्चतुर्विधम् ॥ ३२ ॥

संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः ।
तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृतक्रमः ॥ ३३ ॥

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः ।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम् ॥ ३४ ॥

शौरसेनी च गौडी च लाटी चान्यापि तादृशी ।
याति प्राकृतमित्येवं व्यवहारेषु संनिधिम् ॥ ३५ ॥

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः ।
शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥ ३६ ॥

संस्कृतं सर्गबन्धादि प्राकृतं स्कन्धकादि यत् ।
ओसरादि अपभ्रंशो नाटकादि तु मिश्रकम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार कथा और आख्यायिका एक जाति के हैं, केवल नाम दो हैं । आख्यान की अन्य जातियाँ भी इसी के अंतर्गत हैं ॥ २८ ॥

कन्याहरण, युद्ध, कपट करना, किसी की उत्पत्ति आदि के वर्णन सर्गबंध के समान इसमें भी होते हैं । ये इसके विशेष गुण नहीं हैं ॥ २९ ॥

कवि के भाव के अनुसार बना हुआ चिन्ह कथा ही में नहीं अन्यत्र भी दूषित नहीं होता । विद्वानों को इष्टार्थ की पूर्ति में ऐसी कौन घटना है जो आरंभ का काम नहीं दे सकती ? (अर्थात् वे जहां से चाहें आरंभ कर सकते हैं) ॥ ३० ॥

नाटक आदि में मिश्रित रचना (गद्य और पद्य) रहती है, जिसका वर्णन अन्यत्र है । गद्यपद्यमय एक रचना चंपू भी होता है ॥ ३१ ॥

इस साहित्य के संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा मिश्र (भाषा के अनुसार) चार भेद विद्वानों द्वारा कहे गये हैं ॥३२॥

महर्षियों द्वारा कही हुई संस्कृत दैवी भाषा है । तद्भव, तत्सम, देशी अनेक प्राकृत (भाषायें) हैं ॥ ३३ ॥

महाराष्ट्र में बोली जाने वाली भाषा उत्कृष्ट प्राकृत है, जिस में सूक्ति रत्नोंके सागर सेतुबंध आदि ग्रंथ हैं ॥ ३४ ॥

शौरसेनी, गौड़ी, लाटी या ऐसी ही अन्य भाषायें साधारण व्यवहार में प्राकृत के नाम से ही कही जाती हैं ॥ ३५ ॥

काव्य में आभीर आदि भाषायें अपभ्रंश कही जाती हैं पर शास्त्र में संस्कृत से भिन्न अन्य सभी भाषायें अपभ्रंश कही गई हैं ॥ ३६ ॥

संस्कृत में सर्गबंध आदि, प्राकृत में स्कंधक आदि, अपभ्रंश में ओसर आदि और मिश्र में नाटक आदि होते हैं ॥३७॥

कथा हि सर्वभाषाभिः संस्कृतेन च बध्यते ।
भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम् ॥ ३८ ॥

लास्यच्छलितशम्पादि प्रेक्षार्थमितरत् पुनः ।
श्रव्यमेवेति सैषापि द्वयी गतिरुदाहृता ॥ ३९ ॥

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥ ४० ॥

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः ॥ ४१ ॥

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः ।
एषां विपर्ययः प्रायो लक्ष्यते गौडवर्त्मनि ॥ ४२ ॥

श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम् ।
शिथिलं मालतीमाला लोलालिकलिला यथा ॥ ४३ ॥

अनुप्रासधिया गौडैस्तदिष्टं बन्धगौरवात् ।
वैदर्भैर्मालतीदाम लङ्घितं भ्रमरैरिति ॥ ४४ ॥

प्रसादवत् प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति ।
लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः ॥ ४५ ॥

व्युत्पन्नमिति गौडीयैर्नातिरूढमपीष्यते ।
यथानत्यर्जुनाब्जन्मसदृक्षाङ्को वलक्षगुः ॥ ४६ ॥

कथा की सभी भाषाओं में और संस्कृत में भी रचना होती है। विचित्र अर्थों वाली बृहत्कथा भूतभाषा में है ॥ ३८ ॥

लास्य (नाच), असित (मूक दृश्य), शंपा (वाद्य) आदि कुछ केवल देखने के लिये हैं और दूसरे इसके प्रतिकूल सुनने के लिये हैं। यहां भी दो भेद हैं॥ ३९ ॥

आपस में सूक्ष्म सूक्ष्म भेद होने के कारण वाणी की शैली अनेक हैं। उनमें से वैदर्भी और गौड़ी का, जिनमें स्पष्ट अंतर है, वर्णन किया जाता है ॥ ४० ॥

श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कांति और समाधि ॥ ४१ ॥

ये दश गुण वैदर्भी शैली के प्राण के समान हैं। प्रायः इन के उल्टे गुण गौड़ी शैली में मिलते हैं ॥ ४२ ॥

शैथिल्य का न होना ही श्लेष है। अल्पप्राण अक्षरों से बना हुआ पद शिथिल है जैसे 'मालती माला-लोलालिकलिला' (अर्थात् इच्छुक भ्रमरों से लदी हुई मालती की माला) ॥४३॥

गौड़ों में अनुप्रास के विचार से ऐसा होता है। वैदर्भोंमें अशिथिलता के लिये 'मालतीदाम लङ्घितं भ्रमरैः' (अर्थात् भ्रमरों से आक्रमण की गई मालती की माला) कहेंगे ॥ ४४ ॥

प्रसाद सहित वह हैं जिसका अर्थ प्रसिद्ध अर्थात् स्पष्ट हो जैसे, इंदोरिंदीवरद्युति लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति (अर्थात् चन्द्रमा का धब्बा नील कमल सी शोभा से उसके सौंदर्य को बढ़ाता है) पद का अर्थ सुगम है ॥ ४५ ॥

गौड़ीय लोग व्याकरण ज्ञान दिखलाने को जो अत्यंत रूढ़ि नहीं है उसे ही पसंद करते हैं, जैसे 'अनत्यर्जुनाब्जन्मसदृक्षांको वलक्षगुः' अर्थात् श्वेत किरण वाले चन्द्रमा में, जल से उत्पन्न, जो अत्यंत श्वेत नहीं है (नीला कमल) उसके समान धब्बा है ॥४६॥

समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः ।
बन्धा मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः ॥ ४७ ॥

कोकिलालापवाचालो मामेति मलयानिलः ।
उच्छलच्छीकराच्छाच्छनिर्झराम्भः कणोक्षितः ॥ ४८ ॥

चन्दनप्रणयोद्गन्धिर्मन्दो मलयमारुतः ।
स्पर्धते रुद्धमद्धैर्यो वररामाननानिलैः ॥ ४९ ॥

इत्यनालोच्य वैषम्यमर्थालंकारडम्बरौ ।
अवेक्षमाणा ववृधे पौरस्त्या काव्यपद्धतिः ॥ ५० ॥

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसः स्थितः ।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥ ५१ ॥

ययाकयाचिच्छ्रुत्या यत् समानमनुभूयते ।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा ॥ ५२ ॥

वर्ण-विन्यास में जो विषम नहीं है वही सम है । मृदु, स्फुट या मिश्र वर्णों के योग से इसके क्रमशः मृदु, स्फुट या मध्यम भेद होते हैं ॥ ४७ ॥

मृदु का उदाहरण—कोकिलालापवाचालो मामैति मलयानिलः (कोयल की बोली से वाचाल हुई मलय समीन मेरे पास आती है) ।

स्फुट का उदाहरण—उच्छलच्छीकराच्छाच्छनिर्झराम्भः-कणोक्षितः (पहाड़ी नदियों के स्वच्छ जलकणों से परिपूर्ण उछलती हुई हलकी फुहारा सी) ॥ ४८ ॥

मिश्र का उदाहरण—चन्दन प्रणयोद्गन्धिर्मन्दो मलयमारुतः॥ (चंदन वृक्ष की मित्रता से गंध युक्त मंद मलय-समीर) विषमका उदाहरण—स्पर्धते रुद्धमद्धैर्यो वररामाननानिलैः ॥ (मेरे धैर्य्य को नष्ट कर वायु सुंदर स्त्रियों के मुख की स्वाँस से स्पर्धा करता है) ॥ ४९ ॥

सूचना—दोनों श्लोक ४८-४९ मिलकर विषम का बड़ा उदाहरण और अंतिम चतुर्थ पंक्ति विषम का छोटा उदाहरण उपस्थित करते हैं ।

इस वैषम्य का विचार न कर और अर्थ तथा अलंकार के आडंबर पर दृष्टि रखकर पूर्व की काव्यपद्धति बढ़ी है ॥ ५० ॥

रस युक्त ही मधुर है, अतएव शब्दों तथा वस्तुओं में भी रस रहना चाहिए । इससे बुद्धिमान उसी प्रकार प्रसन्न होते हैं जिस प्रकार मधु से मधुलोभी मक्षिका प्रसन्न होती है ॥५१॥

सुने जाने वाले शब्द-समूह में समता का अनुभव होता है, वैसे ही शब्द-विन्यास अनुप्रास युक्त होकर रसोत्पत्ति करते हैं ॥ ५२ ॥

एष राजा यदा लक्ष्मीं प्राप्तवान् ब्राह्मणप्रियः ।
तदाप्रभृति धर्मस्य लोकेस्मिन्नुत्सवोभवत् ॥ ९३ ॥

इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः ।
अनुप्रासादपि प्रायो वैदर्भैरिदमीप्सितम् ॥ ९४ ॥

वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च ।
पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता ॥ ९५ ॥

चन्द्रे शरन्निशोत्तंसे कुन्दस्तबकविभ्रमे ।
इन्द्रनीलनिभं लक्ष्म संदधात्यलिनः श्रियम् ॥ ९६ ॥

चारु चान्द्रमसं भीरु बिम्बं पश्यैतदम्बरे ।
मन्मनो मन्मथाक्रान्तं निर्दयं हन्तुमुद्यतम् ॥ ९७ ॥

इत्यनुप्रासमिच्छन्ति नातिदूरान्तरश्रुतिम् ।
न तु रामामुखाम्भोजसदृशश्चन्द्रमा इति ॥ ९८ ॥

स्मरः खरः खलः कान्तः कायः कोपश्च नः कृशः ।
च्युतो मानोधिको रागो मोहो जातोसवो गताः ॥ ९९ ॥

जिस समय से इस ब्राह्मण-प्रिय राजाने राज्य पाया उसी समय से संसार में धर्म के लिये उत्सव का दिन हुआ ॥ ५३ ॥

गौड़ीय इस शब्द समता का आदर नहीं करते क्योंकि उन्हें अनुप्रास प्रिय है । वैदर्भियों को अनुप्रास से भी प्रायः यही अधिक प्रिय है ॥ ५४ ॥

वाक्यों या पदों में वर्णों की आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं, यदि पहले के अनुभवों को जागृत रखने के योग्य अदूरता अर्थात् सामीप्य भी हो ॥ ५५ ॥

चरणों में अनुप्रास का उदाहरण—कुन्द के गुच्छे की शोभा से युक्त शरद रात्रि के चूड़ामणि चन्द्र में नीलम के ऐसा धब्बा भ्रमर की शोभा देता है ॥ ५६ ॥

इसमें प्रत्येक चरण के आरंभ में चन्द्र, कुन्द, इन्द्र तथा संदधाति में अनुप्रास है ।

शब्दों में अनुप्रास का उदाहरण—हे भीरु, आकाश में इस सुंदर चन्द्रमा के बिंब को देखो । यह निर्दय मेरे कामपीड़ित मन को मारने को उद्यत है ॥ ५७ ॥

इसी प्रकार के अनुप्रास, जिनमें श्रुति दूर दूर अंतर पर नहीं है, पसंद किये जाते हैं । ऐसे नहीं जैसे—रामा मुखाम्भोजसदृशश्चन्द्रमा (युवती का मुखरूपी कमल चन्द्रमा के समान है ॥ ५८ ॥

इसमें दोनों ' मा ' दूर दूर पर हैं ।

कामदेव निर्दय और पति दुष्ट है और हमारा शरीर तथा क्रोध दोनों कृश होगया है । मान तो चला गया पर मेरा प्रेम बढ़ गया है, मैं मोह को प्राप्त होती हूँ और मेरा प्राण निकलता है ॥ ५९ ॥

इत्यादि बन्धपारुष्यं शैथिल्यं च नियच्छति ।
अतो नैवमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुञ्जते ॥ ६० ॥

आवृत्तिमेव संघातगोचरां यमकं विदुः ।
तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद्विधास्यते ॥ ६१ ॥

कामं सर्वोप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति ।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ॥ ६२ ॥

कन्ये कामयमानं मां त्वं न कामयसे कथम् ।
इति ग्राम्योयमर्थात्मा वैरस्यायैव कल्पते ॥ ६३ ॥

कामं कन्दर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निर्दयः ।
त्वयि निर्मत्सरो दिष्ट्येत्यग्राम्योर्थो रसावहः ॥ ६४ ॥

शब्देपि ग्राम्यतास्त्येव सा सभ्येतरकीर्तनात् ।
यथा यकारादिपदं रत्युत्सवनिरूपणे ॥ ६५ ॥

पदसंधानवृत्त्या वा वाक्यार्थत्वेन वा पुनः ।
दुष्प्रतीतिकरं ग्राम्यं यथा या भवतः प्रिया ॥६६॥

इत्यादि प्रकार की रचना से पदविन्यास में कठोरता और शिथिलता आ जाती है, इससे दक्षिणी ऐसे अनुप्रास का प्रयोग नहीं करते ॥ ६० ॥

ऐसी आवृत्ति जब पद समूह में हो तब वह यमक कहलाता है। केवल इसीसे मधुरता नहीं आती, इससे उसका आगे वर्णन होगा ॥ ६१ ॥ (परि० ३ श्लो० १-७७)

अवश्य ही सभी अलंकार अर्थ में रस का संचार करते हैं; पर ग्राम्यता दोष की अनुपस्थिति ही इस कार्य के संपन्न करने में सबसे बढ़कर भार वहन करती है ॥ ६२ ॥

'हे बाला मैं तुम्हारी इच्छा करता हूँ, तुम क्यों नहीं मेरी इच्छा करतीं,' इसके अर्थ में ग्राम्यता है और यह विरसता ही उत्पन्न करती है ॥ ६३ ॥

'हे सुनयनी, चांडाल काम मुझपर निर्दय हो रहा है, पर प्रसन्नता है कि तुमसे उसको द्वेष नहीं है।' इसमें ग्राम्यता दोष नहीं है, इसलिए रसोत्पत्ति-कारक है ॥ ६४ ॥

शब्द में भी ग्राम्यता होती है। जो शब्द सभ्य न हों उस के कहने से ऐसा होता है, जैसे रति उत्सवादि के वर्णन में यकार से आरंभ हुये शब्द (जैसे यभन शब्द) ॥ ६५ ॥

कुछ शब्दों के मेल से और वाक्य (पूर्ण) के (लक्षण) अर्थ से भी बुरी भावना उत्पन्न करने वाला ग्राम्य दोष व्युत्पन्न होता है। पहिले का उदाहरण-जैसे, 'या भवतः प्रियाः' अर्थात् यह आप की प्रिया है (इसमें 'याभवतः, रतिप्रेमी नायक की प्रिया की ध्वनि दुष्प्रतीतिकर ग्राम्यता है ॥ ६६ ॥

खरं प्रहृत्य विश्रान्तः पुरुषो वीर्यवानिति ।
एवमादि न शंसन्ति मार्गयोरुभयोरपि ॥ ६७ ॥

भगिनीभगवत्यादि सर्वत्रैवानुमन्यते ।
विभक्तमिति माधुर्यमुच्यते सुकुमारता ॥ ६८ ॥

अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते ।
बन्धशैथिल्यदोषोपि दर्शितः सर्वकोमले ॥ ६९ ॥

मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः ।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि ॥ ७० ॥

इत्यनूर्जित एवार्थो नालंकारोपि तादृशः ।
सुकुमारतयैवैतदारोहति सतां मुखम् ॥ ७१ ॥

दीप्तमित्यपरैर्भूम्ना कृच्छ्रोद्यमपि बध्यते ।
न्यक्षेण क्षपितः पक्षः क्षत्रियाणां क्षणादिति ॥ ७२ ॥

अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य हरिणोद्धृता ।
भूः खुरक्षुण्णनागासृग्लोहितादुदधेरिति ॥ ७३ ॥

दूसरे का उदाहरण—खरं प्रहृत्य विश्रान्तः पुरुषो वीर्यवान् ।

(खर को मारकर वीर्यवान पुरुष विश्राम करते हैं) खर = रावण का भाई एक राक्षस, कर्मेंद्रिय । वीर्यवान = वीर पुरुष रामचन्द्र, कामुक) इस प्रकार की रचनाएँ दोनों शैलियों में प्रशंसित नहीं हैं ॥ ६७ ॥

भगिनी, भगवती आदि शब्द सर्वत्र मान्य हैं । यहाँ तक माधुर्य के (दोनों) विभाग बतलाए गये, अब सुकुमारता का वर्णन दिया जायगा ॥ ६८ ॥

जिसमें प्रायः कठोर अक्षर न हों उसे सुकुमार कहते हैं । पर सभी अक्षरों के कोमल होने से प्रबंध में शैथिल्य दोष आता है, यह बतलाया जा चुका है ।

(१ परि० ४३ श्लोक) ॥ ६९ ॥

परों को मंडलाकार करके, गले से मधुर गीतों को निकालते हुये मोर गण, उस काल में, जिसमें बादल उठते हैं, नृत्य करते हैं ॥ ७० ॥

इसमें अर्थ भी ऊँचा नहीं है और न वैसा अलंकार ही है । यह केवल अपनी सुकुमारता के कारण अच्छे लोगों के मुखों में (कंठस्थ) रहता है ॥ ७१ ॥

दूसरे बहुधा दीप्त होने के विचार से ऐसी रचना करते हैं जो कष्ट से पढ़ी जाती है । जैसे-न्यक्षेण क्षपितः पक्षः क्षत्रियाणां क्षणादिति ॥ (क्षण में क्षत्रियों का समूह परशुराम जी से नष्ट कर दिया गया) ॥ ७२ ॥

अर्थ व्यक्ति वह है जिसमें ऊपर से कुछ न मिलाना पड़े । जैसे, हरिने पृथ्वी को समुद्र में से निकाला जो खुर द्वारा कुचले गये सर्पों के रक्त से रंजित थी ॥ ७३ ॥

महीं महावराहेण लोहितादुद्धृतोदधेः ।
इतीयत्येव निर्दिष्टे नेयत्वमुरगासृजः ॥ ७४ ॥

नेदृशं बहु मन्यन्ते मार्गयोरुभयोरपि ।
न हि प्रतीतिः सुभगा शब्दन्यायविलङ्घिनी ॥ ७५ ॥

उत्कर्षवान् गुणः कश्चिदुक्ते यस्मिन् प्रतीयते ।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः ॥ ७६ ॥

अर्थिनां कृपणा दृष्टिस्त्वन्मुखे पतिता सकृत् ।
तदवस्था पुनर्देव नान्यस्य मुखमीक्षते ॥ ७७ ॥

इति त्यागस्य वाक्येऽस्मिन्नुत्कर्षः साधु लक्ष्यते ।
अनेनैव पथान्यच्च समानन्यायमूह्यताम् ॥ ७८ ॥

श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते ।
यथा लीलाम्बुजक्रीडासरोहेमाङ्गदादयः ॥ ७९ ॥

ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम् ।
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम् ॥ ८० ॥

तद्गुरूणां लघूनां च बाहुल्याल्पत्वमिश्रणैः ।
उच्चावचप्रकारं तद्दृश्यमाख्यायिकादिषु ॥ ८१ ॥

अस्तमस्तकपर्यस्तसमस्तार्कांशुसंस्तरा ।
पीनस्तनस्थिताताम्रकम्रवस्त्रेव वारुणी ॥ ८२ ॥

'लोहित समुद्र में से महावराह द्वारा पृथ्वी निकाली गई',
केवल यही कहा जाय तो 'सर्पों के रक्त से' इतना ऊपर से
लाना होगा ॥ ७४ ॥

दोनों शैलियों में इस प्रकार की रचना का बहुत मान नहीं
होता, क्योंकि शब्द–न्याय का उल्लंघन करने से अर्थ स्पष्ट नहीं
होता ॥ ७५ ॥

जिस रचना में पढ़े जाने पर उन्नत गुण की प्रतीति हो,
वही उदार कही जाती है। इसीसे काव्य पद्धति सनाथ
होती है ॥ ७६ ॥

अर्थियों की दयनीय दृष्टि आपके मुख पर केवल एक बार
पड़ी, जिसके अनंतर पुनः उन्हें हे देव, उसी अवस्था में दूसरे
के मुख की ओर नहीं देखना पड़ा ॥ ७७ ॥

इस दान वाक्य में उत्कर्ष स्पष्टतया लक्षित है। इसी
प्रकार, ऐसे ही नियम के अनुसार, अन्य उदाहरण बनाने
चाहिएँ ॥ ७८ ॥

कुछ लोग अच्छे विशेषणों से युक्त रचना ही को उदार
समझते हैं। जैसे, लीलांबुजः, क्रीड़ासर, हेमांगदः आदि ॥७६॥

समास की अधिकता ओज है। यही गद्य का प्राण है।
पद्य में भी दाक्षिणात्यों के सिवा सब को यही एक प्रिय है ॥८०॥

गुरु और लघु वर्णों के बाहुल्य या कमी या मिश्रण के
अनुसार इसके बहुत से भेद हैं. आख्यायिका आदि में इसके
उदाहरण आते हैं ॥ ८१ ॥

सूर्य के समस्त किरणों से ढँकी हुई अस्ताचल पर शोभाय-
मान पश्चिमदिशा उस स्त्री के समान थी जिसने सुन्दर लाल
वस्त्र से अपने पीन कुचों को ढाँक रखा था ॥ ८२ ॥

इति पद्येपि पौरस्त्या बध्नन्त्योजस्विनीर्गिरः ।
अन्ये त्वनाकुलं हृद्यमिच्छन्त्योजो गिरां यथा ॥ ८३ ॥

पयोधरतटोत्सङ्गलग्नसंध्यातपांशुका ।
कस्य कामातुरं चेतो वारुणीं न करिष्यति ॥ ८४ ॥

कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात् ।
तच्चवार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते ॥ ८५ ॥

गृहाणि नाम तान्येव तपोराशिर्भवादृशः ।
संभावयति यान्येवं पावनैः पादपांसुभिः ॥ ८६ ॥

अनयोरनवद्याङ्गि स्तनयोर्जृम्भमाणयोः ।
अवकाशो न पर्याप्तस्तव बाहुलतान्तरे ॥ ८७ ॥

इति संभाव्यमेवैतद्विशेषाख्यानसंस्कृतम् ।
कान्तं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्तिनः ॥ ८८ ॥

लोकातीत इवात्यर्थमध्यारोप्य विवक्षितः ।
योर्थस्तेनातितुष्यन्ति विदग्धा नेतरे यथा ॥ ८९ ॥

देवाधिष्ण्यमिवाराध्यमद्यप्रभृति नो गृहम् ।
युष्मत्पादरजःपातधौतनिःशेषकिल्बिषम् ॥ ९० ॥

अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा ।
इदमेवंविधं भावि भवत्याः स्तनजृम्भणम् ॥ ९१ ॥

इस प्रकार पद्य में भी पूर्व के रहनेवाले ओजस्विनी वाणी का प्रयोग करते हैं, दूसरे लोग वाणी में ओज तब पसंद करते हैं जब वह हृदयग्राहिणी तथा स्पष्ट अर्थ देनेवाली हो ॥ ८३ ॥

सांध्य (सूर्य के) किरण से बादलों के तटों (स्तनों के किनारे) को अच्छादित कर पश्चिम दिशा (रूपी बाला) किसके मन को कामातुर नहीं करती ॥ ८४ ॥

जो सारे जगत को प्रिय है, वही कांत है, क्योंकि लौकिक अर्थ का वह अतिक्रमण नहीं करता। वह साधारण बातचीत तथा वर्णन में भी मिलता है ॥ ८५ ॥

उदा०-गृह वेही हैं जिन्हें आपसे तपस्वी अपने पैर की पवित्र धूलि से प्रतिष्ठित करते हैं ॥ ८६ ॥

दूसरा उदाहरण-हे अनिंद्य अंगों वाली ! इन तेरे दोनों बढ़ते हुये स्तनों के लिये लता के समान तेरे दोनों हाथों के बीच पर्याप्त स्थान नहीं है ॥ ८७ ॥

(इन दोनों उदाहरणों का) आख्यान संभव है और विशेष प्रकार से कहने के कारण रोचक है। जो लोकानुकूल रचना करता है वह सब का कांत होता है ॥ ८८ ॥

जिसमें लौकिक से परे तथा उससे अधिक बढ़ाकर वर्णन किया जाता है उस अर्थ से मर्मज्ञ ही, दूसरे नहीं, परितुष्ट होते हैं। जैसे—

हमारा गृह आज से देवस्थान के समान पूज्य हो गया, क्योंकि आपके पदरज के गिरने से इसका पाप धुलकर निःशेष हो गया है ॥ ९० ॥

आप के इस प्रकार के भावी कुच-वर्धन का बिना बिचार किये ब्रह्माने आकाश को छोटासा बनादिया ॥ ९१ ॥

इदमत्युक्तिरित्युक्तमेतद्गौडोपलालितम् ।
प्रस्थानं प्राक्प्रणीतं तु सारमन्यस्य वर्त्मनः ॥ ९२ ॥

अन्यधर्मस्ततोन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ॥ ९३ ॥

कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च ।
इति नेत्रक्रियाध्यासाल्लब्धा तद्वाचिनी श्रुतिः ॥ ९४ ॥

निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् ।
अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते ॥ ९५ ॥

पद्मान्यर्कांशुनिष्ठ्यूताः पीत्वा पावकविप्रुषः ।
भूयो वमन्तीव मुखैरुद्गीर्णारुणरेणुभिः ॥ ९६ ॥

इति हृद्यमहृद्यं तु निष्ठीवति वधूरिति ।
युगपन्नैकधर्माणामध्यासश्च मतो यथा ॥ ९७ ॥

गुरुगर्भभरक्लान्ताः स्तनन्त्यो मेघपङ्क्तयः ।
अचलाधित्यकोत्सङ्गमिमाः समाधिशेरते ॥ ९८ ॥

उत्सङ्गशयनं सख्याः स्तननं गौरवं क्लमः ।
इतीह गर्भिणीधर्मा बहवोन्यत्र दर्शिताः ॥ ९९ ॥

तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः ।
कविसार्थः समग्रोपि तमेकमुपजीवति ॥ १०० ॥

यह सब अत्युक्ति कहलाती है, जो गौड़ों को प्रिय है। इसके पहले जो उदाहरण दिया गया है, दूसरी शैली का सार है ॥ ९२ ॥

लोक सीमा के अंतर्गत एक वस्तु का धर्म जब अन्यत्र पूर्ण रूपेण स्थापित किया जाता है, तो उसे समाधि कहते हैं। जैसे—॥ ९३ ॥

कुमुदिनी बंद हो रही हैं (संकुचित हो रही हैं) और कमल खुल रहे हैं (खिल रहे हैं)। इसमें आँखों की क्रियाओं का (कमल पर) आरोप हुआ है, इसलिये उसी क्रिया को प्रकट करने वाले शब्द प्रयुक्त हुये हैं ॥ ९४ ॥

थूकना, उगलना, कै करना आदि जब गौण रूप (अर्थात् अन्य अर्थ) में आते हैं तभी सुन्दर मालूम होते हैं, नहीं तो गँवारपन में उनकी गिनती होती है ॥ ९५ ॥

कमल सूर्य किरणों से (थूके हुये) निकले हुये अग्नि कणों का पान करके अपने मुखों से लाल पराग रेणुओं को (वमन करते हुए) निकालते हुए कै करते ज्ञात होते हैं ॥ ९६ ॥

यह अच्छा है, पर ' बहू थूकती है ' यह कहना बुरा है। अनेक धर्मों का एक साथ आरोप भी (वही गुण है) जैसे—॥ ९७ ॥

यह मेघावली (गर्भिणी नायिका) भारी (गर्भभार) जलसे क्लांत होकर (सिसकती है) गरजती है और पहाड़ी अधित्यका के (सखी के) गोद में पड़ी हुई है ॥ ९८ ॥

मित्र के गोद में शयन करना, स्तनन (सिसकना), भार तथा क्लांति ये गर्भिणी के बहुत से धर्म अन्यत्र दिखलाए गये हैं ॥ ९९ ॥

समाधि नाम का जो गुण है, वही काव्य का सर्वस्व है। समग्र कवि-समूह इसी एक को आदर्श मानते हैं ॥ १०० ॥

इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात् ।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकवि स्थिताः ॥१०१॥

इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत् ।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते ॥१०२॥

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोस्याः कारणं काव्यसंपदः ॥१०३॥

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना-
गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥१०४॥

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती
श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः ।
कृशे कवित्वेपि जनाः कृतश्रमा
विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते ॥१०५॥

इत्याचार्यदण्डिनः कृतौ काव्यादर्शे मार्गविभागो नाम
प्रथमः परिच्छेदः ।



ये ही दो शैली हैं, जिनकी भिन्नता उनके स्वरूप का निरूपण करने से स्पष्ट हो गई। प्रत्येक कवि में स्थित अन्य उपभेदों का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ १०१ ॥

ईख, दूध और गुड़ आदि के माधुर्यों में बहुत कुछ अंतर है पर सरस्वती जी भी उसका वर्णन नहीं कर सकतीं ॥ १०२ ॥

स्वभावोत्पन्न प्रतिभा, अत्यंत निर्मल विद्याध्ययन और उसकी बहुत योजनाही काव्य संपदा का कारण है ॥ १०३ ॥

यद्यपि वह अद्भुत प्रतिभा न भी हो जो पूर्व की वासना के गुण से व्युत्पन्न होती है तब भी वाणी पठन तथा परिश्रम से मनन करने पर, अवश्य ही अपना दुर्लभ अनुग्रह प्रदान करती है ॥ १०४ ॥

इसलिए कीर्ति चाहने वालों को आलस्य छोड़कर अवश्य क्रमशः सरस्वती की निरंतर उपासना करना (पठन) चाहिए। कवित्व शक्ति के कृश होने पर भी परिश्रमी मनुष्य विद्वानों की गोष्ठी में विजय प्राप्त करता है ॥ १०५ ॥

दंडी कृत काव्यादर्शका मार्गविभाग नामक प्रथम परिच्छेद

॥ समाप्त ॥



२ परिच्छेद

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥१

किंतु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम् ।
तदेव प्रतिसंस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः ॥ २ ॥

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः ।
साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ॥ ३ ॥

स्वभावाख्यानमुपमा रूपकं दीपकावृती ।
आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना ॥ ४ ॥

समासातिशयोत्प्रेक्षा हेतुः सूक्ष्मो लवः क्रमः ।
प्रेयो रसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम् ॥ ५ ॥

उदात्तापह्नुतिश्लिष्टविशेषास्तुल्ययोगिता ।
विरोधाप्रस्तुतस्तोत्रे व्याजस्तुतिनिदर्शने ॥ ६ ॥

सहोक्तिः परिवृत्त्याशीः संकीर्णमथ भाविकम् ।
इति वाचामलंकारा दर्शिताः पूर्वसूरिभिः ॥ ७ ॥

[स्वभावोक्ति-अलंकारः]

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ॥ ८ ॥

तुण्डैराताम्रकुटिलैः पक्षैर्हरितकोमलैः ।
त्रिवर्णराजिभिः कण्ठैरेते मञ्जुगिरः शुकाः ॥ ९ ॥

कलक्वणितगर्भेण कण्ठेनाघूर्णितेक्षणः ।
पारावतः परिक्षिप्य रिरंसुश्चुम्बति प्रियाम् ॥ १० ॥

२ परिच्छेद

काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं। उन में तो आज भी नई नई कल्पनाएँ बढ़ाई जा रही हैं इससे उनका पूर्ण वर्णन कौन कर सकता है ॥ १ ॥

किन्तु पहले के आचार्यों से उनकी कल्पना करने का मूल तत्व बतलाया जा चुका है। उसी के परिमार्जित रूप देने ही को हमारा यह परिश्रम है ॥ २ ॥

कुछ अलंकार (अनुप्रास आदि) पहले मार्ग-भेद बतलाने में कहे जा चुके हैं इसलिये उन्हें न दुहराकर दूसरे जो दोनों (मार्गों) में समान हैं, बतलाए जाँयगे ॥ ३ ॥

स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना ॥ ४ ॥

समास, अतिशय, उपेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लव, क्रम, प्रेय, रसवद्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्ति, समाहित ॥ ५ ॥

उदात्त, अपन्हुति, श्लिष्ट, विशेष, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुत-प्रशंसा, व्याज स्तुति, निदर्शना ॥ ६ ॥

सहोक्ति, परिवृत्ति, आशीः, संकीर्ण और भाविक। पूर्वाचार्यों ने इतने अलंकार बतलाए हैं ॥ ७ ॥

[स्वभावोक्ति]

भिन्न भिन्न अवस्थाओं में स्थित पदार्थों के रूप को स्पष्ट करती हुई स्वभावोक्ति या जाति पहला अलंकार है ॥ ८ ॥ इस के चारों रूप का उदाहरण यों है—

चोंच लाल और टेढ़ी है, पंख हरे और कोमल हैं और गले में त्रिवर्ण की रेखा है। ऐसे ये सुन्दर बोलने वाले सुग्गे हैं ।९।

गले के भीतर ही मधुर ध्वनि करता हुआ तथा आँखों को थोड़ा टेढ़ा किए हुए यह रमणाभिलाषी कपोत पीछे से आकर प्रिया का चुंबन करता है ॥ १० ॥

बध्नन्नङ्गेषु रोमाञ्चं कुर्वन् मनसि निर्वृतिम् ।
नेत्रे चामीलयन्नेष प्रियास्पर्शः प्रवर्तते ॥ ११ ॥

कण्ठेकालः करस्थेन कपालेनेन्दुशेखरः ।
जटाभिः स्निग्धताम्राभिराविरासीद्वृषध्वजः ॥ १२ ॥

जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम् ।
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ॥ १३ ॥

[उपमालंकारः]

यथाकथंचित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते ।
उपमा नाम सा तस्याः प्रपञ्चोयं प्रदर्श्यते ॥ १४ ॥

अम्भोरुहमिवाताम्रं मुग्धे करतलं तव ।
इति धर्मोपमा साक्षात् तुल्यधर्मनिदर्शनात् ॥ १५ ॥

राजीवमिव ते वक्त्रं नेत्रे नीलोत्पले इव ।
इयं प्रतीयमानैकधर्मा वस्तूपमैव सा ॥ १६ ॥

त्वदाननमिवोन्निद्रमरविन्दमभूदिति ।
सा प्रसिद्धिविपर्यासाद्विपर्यासोपमेष्यते ॥ १७ ॥

तवाननमिवाम्भोजमम्भोजमिव ते मुखम् ।
इत्यन्योन्योपमा सेयमन्योन्योत्कर्षशंसिनी ॥ १८ ॥

शरीर में रोमांच करता हुआ, मन में सुख बढ़ाता हुआ और आँखों को ढँकता हुआ प्रिया का यह स्पर्श सञ्चार कर रहा है ॥ ११ ॥

नीले कंठवाले, हाथ में कपाल लिये, शिर पर चन्द्रमा धारण किए तथा वृष-चिन्ह-युक्त-झंडा लिये हुए शिवजी कोमल तथा लाल जटाओं सहित आविर्भूत हुए ॥ १२ ॥

इस प्रकार क्रमशः जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य का स्वाभाविक वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलंकार के चारों भेद हुए। शास्त्रों में भी इसका अटल साम्राज्य है और काव्यों में तो यह वांछित ही है ॥ १३ ॥

[उपमा]

जब (दो वस्तुओं में) किसी भी रूप में कुछ समानता का भाव झलके तो उसको उपमा कहते हैं जिसके भेद आज विस्तार से दिखलाए जाते हैं ॥ १४ ॥

'हे मुग्धे तुम्हारी हथेली ठीक कमल के समान लाल है।' समान धर्म के स्पष्ट कथन से यह धर्मोपमा हुई ॥ १५ ॥

'तुम्हारा मुख लाल कमल सा है और दोनों नेत्र नीले कमल से हैं।' इस में समान धर्म का आरोप वस्तुओं में होने से वस्तूपमा अलंकार है ॥ १६ ॥

'यह कमल खिल जाने से तुम्हारे मुख के समान हुआ।' (उपमान उपमेय का) यह प्रसिद्ध उलट फेर है, इससे इसे विपर्यासोपमा कहते हैं ॥ १७ ॥

'तुम्हारे मुखसा यह कमल है और कमल के समान तुम्हारा मुख।' दोनों के एक दूसरे की प्रशंसा करने के कारण यह अन्योन्योपमा कहलाती है ॥ १८ ॥

त्वन्मुखं कमलेनैव तुल्यं नान्येन केनाचित् ।
इत्यन्यसाम्यव्यावृत्तेरियं सा नियमोपमा ॥ १९ ॥

पद्मं तावत् तवान्वेति मुखमन्यच्च तादृशम् ।
अस्ति चेदस्तु तत्कारीत्यसावनियमोपमा ॥ २० ॥

समुच्चयोपमाप्यस्ति न कान्त्यैव मुखं तव ।
ह्लादनाख्येन चान्वेति कर्मणेन्दुमितीदृशी ॥ २१ ॥

त्वय्येव त्वन्मुखं दृष्टं दृश्यते दिवि चन्द्रमाः ।
इयत्येव भिदा नान्येत्यसावतिशयोपमा ॥ २२ ॥

मय्येवास्या मुखश्रीरित्यलमिन्दोर्विकत्थनैः ।
पद्मेपि सा यदस्त्येवेत्यसावुत्प्रेक्षितोपमा ॥ २३ ॥

यदि किंचिद्भवेत् पद्ममुद्भ्रु विभ्रान्तलोचनम् ।
तत् ते मुखश्रियं धत्तामित्यसावद्भुतोपमा ॥ २४ ॥

शशीत्युत्प्रेक्ष्य तन्वाङ्गि त्वन्मुखं त्वन्मुखाशया ।
इन्दुमप्यनुधावामीत्येषा मोहोपमा मता ॥ २५ ॥

किं पद्ममन्तर्भ्रान्तालि किं ते लोलेक्षणं मुखम् ।
मम दोलायते चित्तमितीयं संशयोपमा ॥ २६ ॥

न पद्मस्येन्दुनिग्राह्यस्येन्दुलज्जाकरी द्युतिः ।
अतस्त्वन्मुखमेवेदमित्यसौ निर्णयोपमा ॥ २७ ॥

'तुम्हारा मुख कमल के ऐसा है, यह कहा जा सकता है पर किसी दूसरी वस्तुसा नहीं कहा जा सकता।' दूसरों से सादृश्य करने का प्रतिबंध करने से यह नियमोपमा हुई ॥१९॥

'कमल उस योग्य है तब तुम्हारे मुख की नकल करता है, यदि दुसरा कोई वैसा हो तो वह भी अनुकरण करे।' किसी प्रतिबंध के न रहने से यह अनियमोपमा है ॥ २० ॥

समुच्चयोपमा भी इस प्रकार की होती है-'तुम्हारा मुख केवल कांति ही में नहीं प्रत्युत् प्रसन्न करने में भी चन्द्रमा का अनुकरण करता है' ॥ २१ ॥

'तुम्हारा मुख केवल तुम्हीं में दिखलाई देता है और चन्द्रमा आकाश में दिखलाता है। (दोनों में केवल आश्रय मात्र का) यही भेद है, दूसरा नहीं।' यह अतिशयोपमा है ॥ २२ ॥

'चन्द्रमा का यह अलंकार कि उसके मुख की श्री केवल हमारी ही सी है, व्यर्थ है क्योंकि वह कांति कमल में भी है।' यह उत्प्रेक्षितोपमा है ॥ २३ ॥

'यदि ऐसे कमल होते, जिन में उच्च भौंहें और चंचल नेत्र हों, तब वे तुम्हारे मुख-श्री की समानता करते।' यह अद्भुतोपमा है ॥ २४ ॥

'हे कृशांगी! तुम्हारे मुख को चन्द्रमा समझकर तुम्हारे मुख की आशा में मैं चन्द्र के पीछे दौड़ रहा हूँ।' यह मोहोपमा है ॥ २५ ॥

'यह चलते हुए भ्रमर से युक्त कमल है या तुम्हारा चंचल नेत्र वाला मुख है? इस प्रकार मेरा मन संशय में पड़ा हुआ है।' यह संशयोपमा है ॥ ६ ॥

'चन्द्र से तिरस्कृत किए जाने योग्य कमल में चन्द्रमा को लज्जित करनेवाली प्रभा नहीं है। वह केवल तुम्हारे मुख में ही है।' यह निर्णयोपमा (निश्चयोपमा) है ॥ २७ ॥

शिशिरांशुप्रतिद्वन्द्वि श्रीमत् सुरभिगन्धि च ।
अम्भोजमिव ते वक्त्रमिति श्लेषोपमा स्मृता ॥ २८ ॥

सरूपशब्दवाच्यत्वात् सा समानोपमा यथा ।
वालेवोद्यानमालेयं सालकाननशोभिनी ॥ २९ ॥

पद्मं वहुरजश्चन्द्रः क्षयी ताभ्यां तवाननम् ।
समानमपि सोत्सेकमिति निन्दोपमा स्मृता ॥ ३० ॥

ब्रह्मणोप्युद्भवः पद्मश्चन्द्रः शम्भुशिरोधृतः ।
तौ तुल्यौ त्वन्मुखेनेति सा प्रशंसोपमोच्यते ॥ ३१ ॥

चन्द्रेण त्वन्मुखं तुल्यमित्याचिख्यासु मे मनः ।
स गुणो वास्तु दोषो वेत्याचिख्यासोपमां विदुः ॥३२॥

शतपत्रं शरच्चन्द्रस्त्वदाननामिति त्रयम् ।
परस्परविरोधीति सा विरोधोपमा मता ॥ ३३ ॥

न जातु शक्तिरिन्दोस्ते मुखेन प्रतिगर्जितुम् ।
कलङ्किनो जडस्येति प्रतिषेधोपमैव सा ॥ ३४ ॥

मृगेक्षणाङ्कं ते वक्त्रं मृगेणैवाङ्कितः शशी ।
तथापि सम एवासौ नोत्कर्षीति चटूपमा ॥ ३५ ॥

'चन्द्रमा का प्रतिद्वंद्वी (कमल चन्द्र का सहज शत्रु है) श्रीयुत (कांति युक्त, लक्ष्मी का निवास स्थान) और सुगंधि-युक्त (मुख पक्ष में स्वाँस सुरभित है) कमल के समान तुम्हारा मुख है।' यह श्लेषोपमा है ॥ २८ ॥

जब एकही रूप के शब्दों की वाच्य शक्ति से भिन्न अर्थ लेते हुए समानता प्रकट हो तो उसे समानोपमा कहते हैं। जैसे, सालवन से शोभित यह उद्यानमाला के समान है (लटकते वालों से शोभित मुख वाली बाला)। 'साल कानन शोभिनी' विशेषण दोनों में श्लेष से दो अर्थ देता है। १–साल वृक्षों के कानन से शोभित २–स–अलक–आनन अर्थात् अलकों युक्त मुख ॥२९॥

'कमल में धूलि (पराग) बहुत है और चन्द्रमा क्षयी है। तुम्हारा मुख उन दोनों के समान होने पर भी उन से बढ़ कर है।' यह निंदोपमा है ॥ ३० ॥

'कमल ब्रह्मा का उत्पत्ति स्थान है, चन्द्र महादेव के शिर पर रहता है और ये दोनों तुम्हारे मुख के ऐसे हैं।' यह प्रशंसोपमा है ॥ ३१ ॥

'हमारा मन यह कहना चाहता है कि तुम्हारा मुख चन्द्र के तुल्य है, चाहे यह कथन गुण हो या दोष।' यह आचिख्यासोपमा है ॥ ३२ ॥

'सौपत्रवाला कमल, शरद चन्द्र और तुम्हारा मुख ये तीनों परस्पर प्रतिस्पर्धी हैं।' यह विरोधोपमा है ॥ ३३ ॥

'कलंकी और जड़ चन्द्रमा की शक्ति नहीं है कि तुम्हारे मुख से स्पर्धा करे।' यह प्रतिषेधोपमा है ॥ ३४ ॥

'तुम्हारा मुख केवल मृग-नेत्र से (एक अंग मात्र से) और चन्द्रमा सर्वांग पूर्ण मृग ही से अंकित है तथापि वह मुख के सदृश ही है, बढ़ कर नहीं है।' यह चटूपमा है ॥ ३५ ॥

न पद्मं मुखमेवेदं न भृङ्गौ चक्षुषी इमे ।
इति विस्पष्टसादृश्यात् तत्त्वाख्यानोपमैव सा ॥ ३६ ॥

चन्द्रारविन्दयोः कक्ष्यामतिक्रम्य मुखं तव ।
आत्मनैवाभवत् तुल्यमित्यसाधारणोपमा ॥ ३७ ॥

सर्वपद्मप्रभासारः समाहृत इव क्वचित् ।
त्वदाननं विभातीति तामभूतोपमां विदुः ॥ ३८ ॥

चन्द्रबिम्बादिव विषं चन्दनादिव पावकः ।
परुषा वागितो वक्त्रादित्यसंभावितोपमा ॥ ३९ ॥

चन्दनोदकचन्द्रांशुचन्द्रकान्तादिशीतलः ।
स्पर्शस्तवेत्यतिशयं प्रथयन्ती बहूपमा ॥ ४० ॥

इन्दुबिम्बादिवोत्कीर्णं पद्मगर्भादिवोद्धृतम् ।
तव तन्वङ्गि वदनमित्यसौ विक्रियोपमा ॥ ४१ ॥

पूष्ण्यातप इवाह्नीव पूषा व्योम्नीव वासरः ।
विक्रमस्त्वय्यधाल्लक्ष्मीमिति मालोपमाक्रमः ॥ ४२ ॥

वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थः कोपि यद्युपमीयते ।
एकानेकेवशब्दत्वात् सा वाक्यार्थोपमा द्विधा ॥ ४३ ॥

त्वदाननमधीराक्षमाविर्दशनदीधिति ।
भ्रमद्भृङ्गमिवालक्ष्यकेसरं भाति पङ्कजम् ॥ ४४ ॥

'यह कमल नहीं है मुख है, ये भ्रमर नहीं हैं नेत्र हैं।' इस प्रकार के स्पष्ट सादृश्य के कारण तत्त्वाख्यानोपमा हुई ॥३६॥

सूचना—निर्णयोपमा और इसमें यही भेद है कि प्रथम में संशय और दूसरे में भ्रांति रहते हुए निश्चय किया जाता है॥

'चन्द्रमा और कमल की कक्षा (समानता) को डाँक कर (बढ़कर) तुम्हारा मुख अपने ही समान हुआ।' यह असाधारणोपमा है ॥ ३७ ॥

'एक ही स्थान पर एकत्र हुए सभी कमलों के कान्तिपुंज के समान तुम्हारा मुख शोभायमान है।' यह अभूतोपमा है ॥ ३८ ॥

'इस मुख से कड़ी बातें निकलना चन्द्रमा से विष और चंदन से अग्नि के निकलने के समान है।' यह असंभावितोपमा है ॥ ३९ ॥

'तुम्हारा स्पर्श चंदनजल, चन्द्रकिरण, चंद्रकान्तमणि आदि के समान शीतल है।' यह गुणातिशय बहूपमा कहलाती है ॥ ४० ॥

'हे कृशांगी! तुम्हारा मुख चंद्रबिम्ब से निर्मित है या कमल के गर्भ से निकलता है।' यह विक्रियोपमा है ॥ ४१ ॥

'जिस प्रकार तेज सूर्य को, सूर्य दिन को और दिन आकाश को प्रकाश देता है उसी प्रकार शौर्य ने आप को श्री प्रदान की है।' यह मालोपमा कहलाती है ॥ ४२ ॥

जब एक वाक्य के अर्थ से दूसरे वाक्य के अर्थ की कोई उपमा देता है तब ऐसी वाक्यार्थोपमा 'इव' के एक या अनेक होने के अनुसार दो प्रकार की होती है ॥ ४३ ॥

(उदाहरण—) 'चंचल नेत्रों से युक्त और दाँतों की शोभा प्रकट करता हुआ तुम्हारा मुख मँडराते हुए भ्रमर युक्त और पराग को दिखलाते हुए कमल सा शोभित हुआ' ॥ ४४ ॥

नलिन्या इव तन्वङ्ग्यास्तस्याः पद्ममिवाननम् ।
मया मधुव्रतेनेव पायं पायमरम्यत ॥ ४५ ॥

वस्तु किंचिदुपन्यस्य न्यसनं तत्सधर्मणः ।
साम्यप्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूपमा यथा ॥ ४६ ॥

नैकोपि त्वादृशोद्यापि जायमानेषु राजसु ।
ननु द्वितीयो नास्त्येव पारिजातस्य पादपः ॥ ४७ ॥

अधिकेन समीकृत्य हीनमेकक्रियाविधौ ।
यद्ब्रुवन्ति स्मृता सेयं तुल्ययोगोपमा यथा ॥ ४८ ॥

दिवो जागर्ति रक्षायै पुलोमारिर्भुवो भवान् ।
असुरास्तेन हन्यन्ते सावलेपास्त्वया नृपाः ॥ ४९ ॥

कान्त्या चन्द्रमसं धाम्ना सूर्यं धैर्येण चार्णवम् ।
राजन्ननुकरोषीति सैषा हेतूपमा मता ॥ ५० ॥

न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा ।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥ ५१ ॥

स्त्रीव गच्छति षण्ढोयं वक्त्येषा स्त्री पुमानिव ।
प्राणा इव प्रियोयं मे विद्या धनमिवार्जिता ॥ ५२ ॥

भवानिव महीपाल देवराजो विराजते ।
अलमंशुमतः कक्षामारोढुं तेजसा नृपः ॥ ५३ ॥

इत्येवमादि सौभाग्यं न जहात्येव जातुचित् ।
अस्ति च क्वचिदुद्वेगः प्रयोगे वाग्विदां यथा ॥ ५४ ॥

'नलिनी लता के समान इस कृशांगी के कमल से मुख का मैं भ्रमर के समान बार बार पानकर ठहर गया' ॥ ४५ ॥

किसी एक वस्तु का कुछ वर्णन कर उसी के धर्म के समान अन्य वस्तु का वर्णन करने से जहाँ सादृश्य की प्रतीति हो वहाँ प्रतिवस्तूपमा होती है ॥ ४६ ॥

'उत्पन्न होते हुए राजाओं में अभीतक एक भी तुम्हारे ऐसा नहीं हुआ। अवश्य ही पारिजात का दूसरा वृक्ष नहीं है' ॥४७॥

समान क्रिया-विधि दिखलाते हुए जब छोटे को बड़े के बराबर कहा जाय तो उसे तुल्ययोगोपमा कहते हैं। जैसे-॥४८॥

'स्वर्ग की रक्षा करने को इन्द्र और पृथ्वी की रक्षा के लिये आप जागृत रहते हैं। उससे असुर गण मारे जाते हैं और आप से दंभी राजे' ॥ ४६ ॥

'राजन् चन्द्रमा से कांति का, सूर्य से तेज का और समुद्र से धैर्य का आपने अनुकरण किया।' यह हेतूपमा माना गया है ॥ ५० ॥

लिंग और वचन को भिन्नता या पद की न्यूनता और आधिक्य तब तक उपमा में दोष नहीं माना जाता जब तक वह बुद्धिमानों को उद्वेगजनक नहीं होता ॥ ५१ ॥

'यह नपुंसक स्त्री के समान चलता है। यह स्त्री पुरुष के समान बोलती है। यह मुझे प्राणों के समान प्रिय है। धन के समान विद्या उपार्जन करना चाहिए' ॥ ५२ ॥

(प्रथम दो तथा चौथे में लिंग तथा तीसरे में वचन का विपर्यय होते भी दोष नहीं है)

'राजन्! आप के समान देवराज शोभायमान हैं। राजा तेज में सूर्य की कक्षा में (समान रूप) रहने योग्य है' ॥ ५३ ॥

इस प्रकार के उदाहरणों में शोभा की कमी नहीं है, पर कुछ प्रयोगों से साहित्य मर्मज्ञों को कष्ट होता है। जैसे-॥५४॥

हंसीव धवलश्चन्द्रः सरांसीवामलं नभः ।
भर्तृभक्तो भटः श्वेव खद्योतो भाति भानुवत् ॥९५॥
ईदृशं वर्ज्यते सद्भिः कारणं तत्र चिन्त्यताम् ।
[गुणदोषविचाराय स्वयमेव मनीषिभिः ॥९६॥]

इववद्वायथाशब्दाः समाननिभसंनिभाः ।
तुल्यसंकाशनीकाशप्रकाशप्रतिरूपकाः ॥९७॥
प्रतिपक्षप्रतिद्वन्द्विप्रत्यनीकविरोधिनः ।
सदृक्सदृशसंवादिसजातीयानुवादिनः ॥९८॥
प्रतिबिम्बप्रतिच्छन्दसरूपसमसंमिताः ।
सलक्षणसदृक्षाभसपक्षोपमितोपमाः ॥९९॥
कल्पदेशीयदेश्यादि प्रख्यप्रतिनिधी अपि ।
सवर्णतुलितौ शब्दौ ये चान्यूनार्थवादिनः ॥६०॥
समासश्च बहुव्रीहिः शशाङ्कवदनादिषु ।
स्पर्धते जयति द्वेष्टि द्रुह्यति प्रतिगर्जति ॥६१॥
आक्रोशत्यवजानाति कदर्थयति निन्दति ।
विडम्बयति संधत्ते हसतीर्ष्यत्यसूयति ॥६२॥
तस्य मुष्णाति सौभाग्यं तस्य कान्तिं विलुम्पति ।
तेन सार्धं विगृह्णाति तुलां तेनाधिरोहति ॥६३॥

हंसी के समान चन्द्रमा शुभ्र है, तालाबों के समान आकाश निर्मल है, कुत्ते के समान वीर गण स्वामिभक्त हैं और सूर्य के समान खद्योत चमकता है ॥ ५५ ॥

विद्वानों से ये प्रयोग त्याज्य हैं। इसका कारण विद्वान आपही (उपमा के) गुण और दोष का विचार कर समझ सकते हैं ॥ ५६ ॥

इव, वत्, वा, यथा, समान, निभ (समान), संनिभ (एकसा), तुल्य, संकाश (सदृश), नीकाश (एकसमान), प्रकाश, प्रतिरूप (क) ॥ ५७ ॥

प्रतिपक्ष, प्रतिद्वंद्वी, प्रत्यनीक (विरोधयोग्य), विरोधी, सदृक्, सदृश, संवादी (समान), सजातीय, अनुवादिन (समान अनुकर्त्ता) ॥ ५८ ॥

प्रतिबिंब, प्रतिच्छेद (मूर्तिवत्). सरूप, सम, संमित (समान), सलक्षण (एक से लक्षण वाले), सदृक्ष (एकरूप), सपक्ष (एक पक्ष वाले), उपमित (जिसके लिये उपमा दी जाय), उपमा ॥ ५९ ॥

कल्प (पास), देशीय (सीमा के पास), देश्य (सीमापर) आदि, प्रख्य (उसी नाम का), प्रतिनिधि भी, सवर्ण, तुलित (तौल में बराबर) और अन्य ऐसे समानार्थ वाचक शब्द हैं ॥६०॥

चन्द्रमुखी आदि बहुव्रीहि समासों में (उपमा वाचक शब्द लुप्त है) । स्पर्धा करता है, विजय करता है, द्वेष करता है, द्रोह करता है, प्रति गर्जन करता है ॥ ६१ ॥

छोटा समझता है, घृणा करता है, कष्ट देता है, निंदा करता है, विडंबना करता है, संधि करता है, हँसता है, ईर्ष्या करता है, डाह करता है ॥ ६२ ॥

उसकी शोभा का हरण करता है, उसकी कांति छीन लेता है, उससे झगड़ा करता है, उसके साथ तुला पर चढ़ता है ६३

तत्पदव्यां पदं धत्ते तस्य कक्षां विगाहते ।
तमन्वेत्यनुबध्नाति तच्छीलं तन्निषेधाति ॥६४॥

तस्य चानुकरोतीति शब्दाः सादृश्यसूचकाः ।
[उपमायामिमे प्रोक्ताः कवीनां बुद्धिसौख्यदाः ॥६५

[रूपकालंकारः]

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते ।
यथा बाहुलता पाणिपद्मं चरणपल्लवः ॥६६॥

अङ्गुल्यः पल्लवान्यासन् कुसुमानि नखार्चिषः ।
बाहू लते वसन्तश्रीस्त्वं नः प्रत्यक्षचारिणी ॥६७॥

इत्येतदसमस्ताख्यं समस्तं पूर्वरूपकम् ।
स्मितं मुखेन्दोर्ज्योत्स्नेति समस्तव्यस्तरूपकम् ॥६८॥

ताम्राङ्गुलिदलश्रेणि नखदीधितिकेसरम् ।
ध्रियते मूर्ध्नि भूपालैर्भवच्चरणपङ्कजम् ॥६९॥

अङ्गुल्यादौ दलादित्वं पादे चारोप्य पद्मताम् ।
तद्योग्यस्थानविन्यासादेतत् सकलरूपकम् ॥७०॥

अकस्मादेव ते चण्डि स्फुरिताधरपल्लवम् ।
मुखं मुक्तारुचो धत्ते घर्माम्भःकणमञ्जरीः ॥७१॥

मञ्जरीकृत्य घर्माम्भः पल्लवीकृत्य चाधरम् ।
नान्यथाकृतमत्रास्यमतोऽवयवरूपकम् ॥७२॥

उसी के पद पर पैर रखता है, उसी के कक्षा में रहता है, उसी का अनुसरण करता है, उसी के शील को पाया है, उसी को निषेध करता है ॥ ६४ ॥

उसका अनुकरण करता है इत्यादि शब्द सादृश्य सूचक हैं। कवियों की बुद्धि को सुख देनेवाले ये सब उपमा के लिए कहे गए हैं ॥ ६५ ॥

[रूपक]

भेद छिपाकर कही गई उपमा को रूपक कहते हैं। जैसे- बाहु-लता, 'कमल-पाणि', 'चरण-पल्लव' ॥ ६६ ॥

'अँगुलियाँ पत्तियाँ हैं, नख की चमक फूल हैं, बाहु लता है और तुम हम लोगों के सामने प्रत्यक्ष चलनेवाली वसंत की शोभा हो' ६७

यह रूपक समस्त (समासयुक्त) नहीं है और पहले के कहे गए तीनों रूपक समस्त (समास ही में) थे। 'मुखचन्द्र की प्रभा ही मुस्किराहट है', इस में समस्त तथा व्यस्त (समास हीन) दोनों रूपक हैं ॥ ६८ ॥

'लाल अँगुलियाँ पत्रों की श्रेणी है और नखप्रभा केसर है, ऐसा आप का चरण कमल राजाओं से शिर पर धारण किया जाता है' ॥ ६९ ॥

अँगुलियों में दलों का और पैर में कमल का आरोप करके कमल के उपयुक्त स्थान (शिर) देने से इस में सकल रूपक हुआ ॥ ७० ॥

'हे चंडी ! अकारण ही काँपते हुए अधर-पल्लव सहित तुम्हारा मुख पसीने के बूंद रूपी मंजरी को धारण कर रहा है, जो मोती से चमकते हैं' ॥ ७१ ॥

पसीने में मंजरी का और अधर में पल्लव का आरोप है, पर मुख पर (कमल) का आरोप नहीं है, इस से यहाँ अवयव रूपक है ॥ ७२ ॥

वलिगतभ्रु गलद्धर्मजलमालोहितेक्षणम् ।
विवृणोति मदावस्थामिदं वदनपङ्कजम् ॥७३॥

अविकृत्य मुखाङ्गानि मुखमेवारविन्दताम् ।
आसीद्गमितमत्रेदमतोवयविरूपकम् ॥७४॥

मदपाटलगण्डेन रक्तनेत्रोत्पलेन ते ।
मुखेन मुग्धः सोप्येष जनो रागमयः कृतः ॥७५॥

एकाङ्गरूपकं चैतदेवं द्विप्रभृतीन्यपि ।
अङ्गानिं रूपयन्त्यत्र योगायोगौ भिदाकरौ ॥७६॥

स्मितपुष्पोज्ज्वलं लोलनेत्रभृङ्गमिदं मुखम् ।
इति पुष्पाद्विरेफाणां संगत्या युक्तरूपकम् ॥७७॥

इदमार्द्रस्मितज्योत्स्नं स्निग्धनेत्रोत्पलं मुखम् ।
इति ज्योत्स्नोत्पलायोगादयुक्तं नाम रूपकम् ॥७८॥

रूपणादङ्गिनोङ्गानां रूपणारूपणाश्रयात् ।
रूपकं विषमं नाम ललितं जायते यथा ॥७९॥

मदरक्तकपोलेन मन्मथस्त्वन्मुखेन्दुना ।
नर्तितभ्रूलतेनालं मर्दितुं भुवनत्रयम् ॥८०॥

हरिपादः शिरोलग्नजह्नुकन्याजलांशुकः ।
जयत्यसुराभिमङ्कुरानन्दोत्सवध्वजः ॥८१॥

'चंचल भौं, गिरते हुए घर्म-विंदु और लाल नेत्र-युक्त यह मुख कमल मत्त अवस्था को प्रकट कर रहा है' ॥ ७३ ॥

मुख के अंगों में आरोप न कर केवल उसी में कमल का आरोप करने से यहाँ अवयवि रूपक हुआ ॥ ७४ ॥

'मदपान के कारण लाल कपोल और कमल-रूपी लाल नेत्रों से युक्त मुख से मुग्ध होकर वह पुरुष रागमय (लाल, मोहित) किया गया ॥ ७५ ॥'

यह एकांग-रूपक हुआ। दो या अधिक अंगों पर भी इसी प्रकार आरोप होता है जिससे द्व्यंग या त्र्यंग रूपक होते हैं। इनमें थोड़ा होने या न होने से दो भेद होते हैं, युक्त और अयुक्त ॥ ७६ ॥

'फूल रूपी मुस्किराहट से उज्ज्वल और भ्रम रूपी चंचल नेत्र से युक्त यह मुख है।' यहाँ भ्रमर और फूल में योग होने से युक्त रूपक हुआ ॥ ७७ ॥

'चाँदनी रूपी हलकी मुस्किराहट और कमल रूपी स्नेह युक्त नेत्र सहित यह मुख है।' यहाँ चाँदनी और कमल में योग न होने से अयुक्त-रूपक हुआ ॥ ७८ ॥

जब अंगो पर आरोप किया जाय पर अंगों में किसी पर आरोप हो और किसी पर न हो तब मनोहर विषम नामक रूपक होता है ॥ जैसे– ॥ ७९ ॥

'कामदेव तुम्हारे मुखचंद्र द्वारा, जिसमें मद पान से कपोल लाल हैं और भ्रूलता चंचल है, तीनों लोक विजय करने में समर्थ है' ॥ ८० ॥

'असुरों से निःशंक हुए देवताओं के आनन्दोत्सव की ध्वजा (दंड) श्री विष्णु-चरण का जय हो, जिसके अग्रभाग से जान्हवी की जलरूपी ध्वजा (वस्त्र) निकल रही है' ॥ ८१ ॥

विशेषणसमग्रस्य रूपं केतोर्यदीदृशम् ।
पादे तदर्पणादेतत् सविशेषणरूपकम् ॥८२॥

न मीलयति पद्मानि न नभोऽप्यवगाहते ।
त्वन्मुखेन्दुर्ममासूनां हरणायैव कल्पते ॥८३॥

अक्रिया चन्द्रकार्याणामन्यकार्यस्य च क्रिया ।
अत्र संदर्श्यते यस्माद्विरुद्धं नाम रूपकम् ॥८४॥

गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वतः ।
कामदत्वाच्च लोकानामसि त्वं कल्पपादपः ॥८५॥

गाम्भीर्यप्रमुखैरत्र हेतुभिः सागरो गिरिः ।
कल्पद्रुमश्च क्रियते तदिदं हेतुरूपकम् ॥८६॥

राजहंसोपभोगार्हं भ्रमरप्रार्थ्यसौरभम् ।
सखि वक्त्राम्बुजमिदं तवेति श्लिष्टरूपकम् ॥८७॥

इष्टं साधर्म्यवैधर्म्यदर्शनाद्गौणमुख्ययोः ।
उपमाव्यतिरेकाख्यं रूपकद्वितयं यथा ॥८८॥

अयमालोहितच्छायो मदेन मुखचन्द्रमाः ।
संनद्धोदयरागस्य चन्द्रस्य प्रतिगर्जति ॥८९॥

चन्द्रमाः पीयते देवैर्मया त्वन्मुखचन्द्रमाः ।
असमग्रोऽप्यसौ शश्वदयमापूर्णमण्डलः ॥९०॥

मुखचन्द्रस्य चन्द्रत्वमित्थमन्योपतापिनः ।
न ते सुन्दरि संवादीत्येतदाक्षेपरूपकम् ॥९१॥

जिस समग्र विशेषण से ध्वजा का रूप पूरा करके बतलाया गया है, उसका पैर पर आरोप होता है, इस से यह सविशेषण-रूपक कहा जाता है ॥ ८२ ॥

'तुम्हारा मुख चन्द्र न कमलों को वंद करता है और न आकाश का अवगाहन करता है, केवल हमारे प्राण का हरण करता है' ॥ ८३ ॥

चंद्रमा के कार्यों का न होना और अन्य कार्य का होना इसमें दिखलाया गया है, इसलिए यह विरुद्ध-रूपक हुआ ॥८४॥

'आप गांभीर्य के कारण समुद्र हो, गौरव से पर्वत हो और मनुष्यों की इच्छा पूर्ण करने से कल्पवृक्ष हो' ॥ ८५ ॥

गांभीर्यादि हेतु के कारण उसपर समुद्र, पहाड़ और कल्पवृक्ष का आरोप हुआ है, इसलिये यह हेतु-रूपक हुआ ॥ ८६ ॥

'हे सखी, तुम्हारा मुख-कमल राजहंसों (हंस, नृप) के उपभोग के योग्य है और उसकी सुगंधि भ्रमरों (प्रेमियों) से वांछनीय है ।' यह श्लिष्ट-रूपक है ॥ ८७ ॥

गौण (अवर्ण्य) तथा मुख्य (वर्ण्य) में साधर्म्य या वैधर्म्य दिखलाने से (निम्न कथित) दो रूपकों में पहला उपमा रूपक तथा दूसरा व्यतिरेक-रूपक हुआ । जैसे—॥८८॥

'मद-पान से लाल वर्ण हुआ यह मुख-चन्द्रमा संध्योदित लालिमायुक्त चंद्र की समानता करता है' ॥ ८९ ॥

'देवताओं से चन्द्रमा और मुझ से तुम्हारा मुख चन्द्र पिया जाता है । वह तो अपूर्ण चंद्र है और यह सर्वदा पूर्ण बिंब-युक्त रहता है' ॥ ९० ॥

'हे सुन्दरी, दूसरों को ताप देने वाला चंद्रत्व तुम्हारे इस मुख चन्द्र को योग्य नहीं है ।' यह आक्षेप रूपक है ॥९१॥

मुखेन्दुरपि ते चण्डि मां निर्दहति निर्दयम् ।
भाग्यदोषान्ममैवेति तत् समाधानरूपकम् ॥९२॥

मुखपङ्कजरङ्गेऽस्मिन् भ्रूलतानर्तकी तव ।
लीलानृत्तं करोतीति रम्यं रूपकरूपकम् ॥९३॥

नैतन्मुखमिदं पद्मं न नेत्रे भ्रमराविमौ ।
एतानि केसराण्येव नैता दन्तार्चिषस्तव ॥९४॥

मुखादित्वं निवर्त्यैवं पद्मादित्वेन रूपणात् ।
उद्भासितगुणोत्कर्षं तत्त्वापह्नवरूपकम् ॥९५॥

न पर्यन्तो विकल्पानां रूपकोपमयोरतः ।
दिङ्मात्रं दर्शितं धीरैरनुक्तमनुमीयताम् ॥९६॥

[दीपकम्]

जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्र वर्तिना ।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तदाहुर्दीपकं यथा ॥९७॥

पवनो दक्षिणः पर्णं जीर्णं हरति वीरुधाम् ।
स एव च नताङ्गीनां मानभङ्गाय कल्पते ॥ ९८ ॥

चरन्ति चतुरम्भोधिवेलोद्यानेषु दन्तिनः ।
चक्रवालाद्रिकुञ्जेषु कुन्दभासो गुणाश्च ते ॥ ९९ ॥

श्यामलाः प्रावृषेण्याभिर्दिशो जीमूतपङ्क्तिभिः ।
भुवश्च सुकुमाराभिर्नवशाद्वलराजिभिः ॥ १०० ॥

'हे चंडिके, तुम्हारा चन्द्रवदन मुझको निर्दयता से जला रहा है, पर यह मेरे भाग्य का दोष है।' यह समाधान रूपक है॥९२॥

'तुम्हारे इस मुख कमल रूपी रंगस्थल पर भ्रूलता रूपी नर्तकी विलास नृत्य कर रही है'। यह मनोहर रूपक रूपक है ॥ ९३ ॥

'यह मुख नहीं है, कमल है, ये नेत्र नहीं हैं, भ्रमर हैं, तुम्हारे दाँतों की यह चमक नहीं है, पराग है' ॥ ९४ ॥

मुखादि के अस्तित्व को हटाकर कमलत्व आदि का आरोप करके गुण के उत्कर्ष का वर्णन करना अपन्हव-रूपक है ॥ ९५ ॥

उपमा और रूपक में भेदों का अंत नहीं है। यहाँ दिग्दर्शन मात्र किया गया है। विद्वानों से, जो नहीं कहा गया है, वह अनुमान कर लिया जाय ॥ ९६ ॥

[दीपक]

जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य वाचक शब्द जो एकही स्थान पर हों पर कई वाक्यों में समान रूप से काम में आवें तो उसे दीपक अलंकार कहते हैं। जैसे—॥ ९७ ॥

'दक्षिण की पवन (मलयानिल) लताओं के पुराने पत्तों का हरण करती है और वही सुकुमारांगी स्त्रियों का मान-भंग भी करती है' ॥ ९८ ॥

[इसमें जाति-वाचक पवन शब्द दोनों वाक्यों में समान रूप से काम आया है ॥

'आप के हाथी चारों समुद्र के किनारों पर स्थित उद्यानों में और कुंद के समान कांतिवाले आप के गुण चक्रवाल पहाड़ के कुंजों में भ्रमण कर रहे हैं' ॥ ९९ ॥

[यहाँ 'भ्रमण कर रहे हैं' क्रिया दोनों के लिये उपयुक्त है।

वर्षा ऋतु के बादलों की पंक्तियों से दिशाएँ और कोमल नए घास के समूहों से भूमि श्यामल है ॥ १०० ॥

विष्णुना विक्रमस्थेन दानवानां विभूतयः ।
क्वापि नीताः कुतोप्यासन्नानीता देवतर्द्धयः ॥ १०१ ॥

इत्यादिदीपकान्युक्तान्येवं मध्यान्तयोरपि ।
वाक्ययोर्दर्शयिष्यामः कानिचित् तानि तद्यथा ॥ १०२॥

नृत्यन्ति निचुलोत्सङ्गे गायन्ति च कलापिनः ।
बध्नन्ति च पयोदेषु दृशं हर्षाश्रुगर्भिणीम् ॥ १०३ ॥

मन्दो गन्धवहः क्षारो वह्निरिन्दुश्च जायते ।
चर्चाचन्दनपातश्च शस्त्रपातः प्रवासिनाम् ॥ १०४ ॥

जलं जलधरोद्गीर्णं कुलं गृहशिखण्डिनाम् ।
चलं च तडितां दाम बलं कुसुमधन्वनः ॥ १०५ ॥

त्वया नीलोत्पलं कर्णे स्मरेणास्त्रं शरासने ।
मयापि मरणे चेतस्त्रयमेतत् समं कृतम् ॥ १०६ ॥

शुक्लः श्वेतार्चिषो वृद्ध्यै पक्षः पञ्चशरस्य सः ।
स च रागस्य रागोपि यूनां रत्युत्सवश्रियः ॥ १०७ ॥

[गुण वाचक 'श्यामलता' दोनों में समान है।

'त्रिविक्रम (विराट् रूप) विष्णु के द्वारा दानवों का वैभव न मालूम कहाँ नष्ट कर दिया गया है और देवताओं की ऋद्धि न मालूम कहाँ से लाई गई है' ॥ १०१ ॥

[इसमें 'विष्णु' शब्द द्रव्यवाचक होकर दोनों में समान रूप से आया है।

इस प्रकार पहिले पदमें आनेवाले आदि-दीपकों के वर्णन कर लेने पर अब मध्य और अंत के वाक्यों के दीपकों को दिखलावेंगे। वे इस प्रकार हैं—

'मयूरगण वेंत के वृक्ष के नीचे नाचते हैं और गाते हैं तथा आनंदाश्रु से पूर्ण आँखों से बादलों को देखते हैं' ॥ १०३ ॥

[जातिगत मध्य दीपक है। कलापिनः मध्य के पदमें आया है।

'प्रवासियों (विरहियों) को मृदु सुगंधित वायु कष्टकर तथा चन्द्रमा अग्नि के समान होता है और चंदन लेप शस्त्र के प्रहार सा (होता है)' ॥ १०४ ॥

[क्रियागत मध्य दीपक है और इसमें रूपक अलंकारों की संसृष्टि है। 'जायते' क्रिया मध्य के वाक्य में है। मध्यगत गुण-द्रव्य दीपक के उदाहरण नहीं दिये गए हैं।

'बादलों से गिरा हुआ जल, पालतू मोरों का समूह और चंचल बिजली की रेखा कामदेव की सेना है' ॥ १०५ ॥

[जाति गत अंत दीपक है। 'कुसुमधन्वनः' अंतिम वाक्य में आया है।

'तुमसे कान पर नीला कमल, कामदेव से धनुष पर तीर और मुझ से भी मरण पर चित्त, ये तीनों, साथ रखे गए हैं' ॥ १०६ ॥

[क्रिया गत अंत दीपक, 'कृतम्' अंत में है। अंतगत गुण-द्रव्य दीपक के उदाहरण नहीं दिये गए हैं।

'शुक्ल पक्ष चन्द्रमा को बढ़ाता है, वह कामदेव को, वह मोह को और वह युवाओं के भोग विलास को (बढ़ाता है)' ॥१०७॥

इत्यादिदीपकत्वेपि पूर्वपूर्वव्यपेक्षिणी ।
वाक्यमाला प्रयुक्तेति तन्मालादीपकं मतम् ॥ १०८ ॥

अवलेपमनङ्गस्य वर्धयन्ति बलाहकाः ।
कर्शयन्ति च घर्मस्य मारुतोद्धूतशीकराः ॥ १०९ ॥

अवलेपपदेनात्र बलाहकपदेन च ।
क्रिये विरुद्धे संयुक्ते तद्विरुद्धार्थदीपकम् ॥ ११० ॥

हरत्याभोगमाशानां गृह्णाति ज्योतिषां गणम् ।
आदत्ते चाद्य मे प्राणानसौ जलधरावली ॥ १११ ॥

अनेकशब्दोपादानात् क्रियैकैवात्र दीप्यते ।
यतो जलधरावल्यस्तस्मादेकार्थदीपकम् ॥ ११२ ॥

हृद्यगन्धवहास्तुङ्गास्तमालश्यामलत्विषः ।
दिवि भ्रमन्ति जीमूता भुवि चैते मतङ्गजाः ॥ ११३ ॥

अत्र धर्मैरभिन्नानामभ्राणां हस्तिनामपि ।
भ्रमणेनैव संवन्ध इति श्लिष्टार्थदीपकम् ॥ ११४ ॥

अनेनैव प्रकारेण शेषाणामपि दीपके ।
विकल्पानामनुगतिर्विधातव्या विचक्षणैः ॥ ११५ ॥

[अर्थावृत्तिः]

अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभयावृत्तिरित्यपि ।
दीपकस्थान एवेष्टमलंकारत्रयं यथा ॥ ११६ ॥

विकसन्ति कदम्बानि स्फुटन्ति कुटजोद्गमाः ।
उन्मीलन्ति च कन्दल्यो दलन्ति ककुभानि च ॥११७॥

इस आदि दीपक में वाक्यों की एक माला ही का प्रयोग हुआ है जिनमें प्रत्येक वाक्य पहले का अपेक्षित है, इससे यह माला दीपक है ॥ १०८ ॥

'वायु से उड़ाये जाते हुए जल कणों से युक्त मेघगण कामदेव के दर्पको बढ़ाते हैं और ग्रीष्म के दर्प (ताप) को कम करते हैं' ॥ १०९ ॥

यहाँ कर्त्ता मेघ और कर्म दर्प पदों के द्वारा विरोधार्थी क्रियाओं के संयोग होने से विरुद्धार्थ दीपक हुआ ॥ ११० ॥

'मेघों की यह पंक्ति दिशाओं के विस्तार को कम करती है, नक्षत्र समूह को छिपा लेती है और मेरे प्राणों को हरती है' ॥ १११ ॥

इस उदाहरण में मेघ पंक्ति की एक ही क्रिया (अदर्शनता) कई शब्दों (हरण, ग्रहण आदि) द्वारा व्यक्त की गई है इस लिये इसे एकार्थ दीपक कहते हैं ॥ ११२ ॥

'मनोरम वायु से प्रेरित ऊँचे बादल, जो तमाल से नील वर्ण वाले हैं, आकाश में और पृथ्वी पर (मनोरम मदधार-युक्त ऊँचे तथा तमाल से नीले) हाथी भ्रमण करते हैं ॥ ११३ ॥

इसमें बादलों तथा हाथियों के भिन्न धर्म न होने से और भ्रमण के कारण एक संबंध होने से यहाँ श्लिष्टार्थदीपक हुआ ११४

इसी प्रकार से दीपक के अन्य भेद विद्वानों द्वारा समझ लिये जांय ॥ ११५ ॥

[दीपकावृत्ति]

दीपक ही के प्रसंग से अर्थावृत्ति, पदावृत्ति या उभयावृत्ति होने से तीन प्रकार के अलंकार होते हैं। जैसे—॥ ११६ ॥

'कदंब विकसित होते हैं, कुटज के अंकुर खिल रहे हैं, कदली फूल रही हैं और कुकुभ (चंपा) पुष्पित होते हैं' ॥११७॥

उत्कण्ठयति मेघानां माला वर्गं कलापिनाम् ।
यूनां चोत्कण्ठयत्यद्य मानसं मकरध्वजः ॥ ११८ ॥
जित्वा विश्वं भवानत्र विहरत्यवरोधनैः ।
विहरत्यप्सरोभिस्ते रिपुवर्गो दिवं गतः ॥ ११९ ॥

[आक्षेपः]

प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा ।
अथास्य पुनराक्षेप्यभेदानन्त्यादनन्तता ॥ १२० ॥
अनङ्गः पञ्चभिः पौष्पैर्विश्वं व्यजयतेषुभिः ।
इत्यसंभाव्यमथवा विचित्रा वस्तुशक्तयः ॥ १२१ ॥
इत्यनङ्गजयायोगबुद्धिर्हेतुबलादिह ।
प्रवृत्तैव यदाक्षिप्ता वृत्ताक्षेपस्तदीदृशः ॥ १२२ ॥
कुतः कुवलयं कर्णे करोषि कलभाषिणि ।
किमपाङ्गमपर्याप्तमस्मिन् कर्मणि मन्यसे ॥ १२३ ॥
स वर्तमानाक्षेपोयं कुर्वत्येवासितोत्पलम् ।
कर्णे काचित् प्रियेणैवं चाटुकारेण रुध्यते ॥ १२४ ॥

[अर्थ की आवृत्ति है।

'मेघमाला मोरों के समूह को उत्कंठित करती है (गर्दनें ऊँची कराती है) और कामदेव युवकों के मन को आज उत्कंठित करता है (विलासोन्मुख करता है)' ॥ ११८ ॥

[पद की आवृत्ति है।

'आप संसार को विजय कर अंतःपुर की स्त्रियों से विहार करते हैं और आप के रिपु स्वर्ग जाकर (वीरगति पाकर) अप्सराओं से विहार करते हैं' ॥ ११९ ॥

[अर्थ तथा पद दोनों की आवृत्ति है।

[आक्षेप अलंकार]

निषेध युक्त कथन आक्षेप है और तीन काल के अनुसार तीन प्रकार का होता है (भूत, भविष्य, वर्तमान आक्षेप)। आक्षेप्य के भेदों की अनंतता के अनुसार ही इसके अनंत भेद हैं ॥ १२० ॥

'अनंग ने पुष्पों के पाँच बाणों से विश्व को जीत लिया, यह असंभव है अथवा वस्तु की शक्ति विचित्र है' ॥ १२१ ॥

इसमें (बिना अंग वाले) कामदेव के जय की अयोग्यता, कारण (फूल के पाँच तीर) दिये होने से, चित्त में चढ़ रही थी पर उसका प्रतिषेध (वस्तु शक्ति का माहात्म्य दिखलाकर) किया गया है। यह वृत्ताक्षेप (भूत) है ॥ १२२ ॥

'हे सुभाषिणी किसलिये तुम कान पर नीला कमल धारण कर रही हो ? क्या तुम नेत्र-प्रांत (कटाक्ष) को इस काम (नायक-चित्त हरण) में असमर्थ समझती हो ?' ॥ १२३ ॥

प्रिय से मिष्टभाषण द्वारा कोई (नायिका) कानमें नीले कमल के रखते समय (वर्तमान कालीन) निषेध की जाती है, इससे यह वर्तमान आक्षेप है ॥ १२४ ॥

सत्यं ब्रवीमि न त्वं मां द्रष्टुं वल्लभ लप्स्यसे ।
अन्याचुम्बनसंक्रान्तलाक्षारक्तेन चक्षुषा ॥ १२५ ॥

सोयं भविष्यदाक्षेपः प्रागेवातिमनस्विनी ।
कदाचिदपराधोस्य भावीत्येवमरुन्द्ध यत् ॥ १२६ ॥

तव तन्वाङ्गि मिथ्यैव रूढमङ्गेषु मार्दवम् ।
यदि सत्यं मृदून्येव किमकाण्डे रुजन्ति माम् ॥ १२७ ॥

धर्माक्षेपोयमाक्षिप्तमङ्गनागात्रमार्दवम् ।
कामुकेन यदत्रैवं कर्मणा तद्विरोधिना ॥ १२८ ॥

सुन्दरी सा ममेत्येष विवेकः केन जायते ।
प्रभामात्रं हि तरलं दृश्यते न तदाश्रयः ॥ १२९ ॥

धर्म्याक्षेपोयमाक्षिप्तो धर्मी धर्मं प्रभाह्वयम् ।
अनुज्ञायात्र यद्रूपमत्याश्चर्यं विवक्षता ॥ १३० ॥

चक्षुषी तव रज्येते स्फुरत्यधरपल्लवः ।
भ्रुवौ च भुग्ने न तथाप्यदुष्टस्यास्ति मे भयम् ॥ १३१ ॥

स एष कारणाक्षेपः प्रधानं कारणं भियः ।
स्वापराधो निषिद्धोत्र यत् प्रियेण पटीयसा ॥ १३२ ॥

दूरे प्रियतमः सोयमागतो जलदागमः ।
दृष्टाश्च फुल्ला निचुला न मृता चास्मि किं न्विदम् ॥ १३३ ॥

कार्याक्षेपः स कार्यस्य मरणस्य निवर्तनात् ।
तत्कारणमुपन्यस्य दारुणं जलदागमम् ॥ १३४ ॥

'हे पति मैं सत्य कहती हूँ कि दूसरे के चुंबन से (उसके अधर की) लाक्षा के रंगसे रंजित तुम्हारी आँखें मुझको न देख सकेंगी' ॥ १२४ ॥

भविष्य में कुछ अपराध न करे इसलिये अति मानिनी (नायिका) ने पहले ही उसको (नायक को) निषेध कर दिया है, इससे यह भविष्यदाक्षेप है ॥ १२६ ॥

'हे कृशांगी ! तुम्हारे अंगों की मानी हुई सुकुमारता मिथ्या है। यदि सत्य ही मृदु है तो अकारण क्यों मुझे कष्ट देती है' १२७

इस प्रकार इसमें प्रेमी उसके (सुकुमारता) विरोधी (व्यथाकरण) कर्म से नायिका के शरीर की सुकुमारता का निषेध करता है। यह धर्माक्षेप है ॥ १२८ ॥

'यह कैसे समझा जाय कि वह सुंदरी है या नहीं। चंचल प्रभा मात्र दिखलाई देती है, उसका आधार नहीं दिखलाई देता' ॥ १२६ ॥

अत्यंत आश्चर्यजनक रूप का प्रतिपालन करते हुए नायक प्रभारूपी धर्म को स्वीकार करतेहुए धर्मी का निषेध करता है, इससे यह धर्म्याक्षेप हुआ ॥ १३० ॥

'तेरी आँखें लाल हो रही हैं, तेरे अधर-पल्लव स्फुरण कर रहे हैं और भौं टेढ़ी हो रही हैं, तबभी मुझ निर्दोष को भय नहीं है' ॥ १३१ ॥

चतुर प्रेमी प्रधान कारण भय से निज अपराध को अस्वीकार करता है, इससे यह कारणाक्षेप हुआ ॥ १३२ ॥

'प्रियतम तो दूरपर हैं और वर्षा ऋतु आगई, विकसित निचुल दिखला रहे हैं और मैं नहीं मरी। ऐसा क्यों हुआ ?' १३३

'कठोर जलदागम कारण का उल्लेख करके 'मरना' कार्य का प्रतिषेध किया गया, इससे यह कार्याक्षेप है ॥ १३४ ॥

न चिरं मम तापाय तव यात्रा भविष्यति ।
यदि यास्यासि यातव्यमलमाशङ्कयात्र ते ॥ १३५ ॥

इत्यनुज्ञामुखेनैव कान्तस्याक्षिप्यते गतिः ।
मरणं सूचयन्त्यैवं सोनुज्ञाक्षेप उच्यते ॥ १३६ ॥

धनं च बहु लभ्यं ते सुखं क्षेमं च वर्त्मनि ।
न च मे प्राणसंदेहस्तथापि प्रिय मा स्म गाः ॥ १३७ ॥

प्रत्याचक्षाणया हेतून् प्रिययात्रानिबन्धिनः ।
प्रभुत्वेनैव रुद्धस्तत् प्रभुत्वाक्षेप ईदृशः ॥ १३८ ॥

जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम ।
गच्छ वा तिष्ठ वा कान्त स्वावस्था तु निवेदिता ॥ १३९ ॥

असावनादराक्षेपो यदनादरवद्वचः ।
प्रियप्रयाणं रुन्धत्या प्रयुक्तमिह रक्तया ॥ १४० ॥

गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ॥ १४१ ॥

इत्याशीर्वचनाक्षेपो यदाशीर्वादवर्त्मना ।
स्वावस्थां सूचयन्त्यैव कान्तयात्रा निषिध्यते ॥ १४२ ॥

यदि सत्यैव यात्रा ते काप्यन्या गृह्यतां त्वया ।
अहमद्यैव रुद्धास्मि रन्ध्रापेक्षेण मृत्युना ॥ १४३ ॥

इत्येष परुषाक्षेपः परुषाक्षरपूर्वकम् ।
कान्तस्याक्षिप्यते यस्मात् प्रस्थानं प्रेमनिघ्नया ॥ १४४ ॥

'तुम्हारी यात्रा चिरकाल तक मेरे ताप का कारण न होगी। यदि जाते हो तो जाओ। यहाँ के लिये कुछ आशंका न करो' १३५

अनुमति देते हुए भी पतिगमन का प्रतिषेध मरण की सूचना देकर किया गया है। इसे अनुज्ञाक्षेप कहते हैं॥ १३६॥

'धन भी बहुत मिलने वाला है, मार्ग भी सुखमय और कुशलपूर्ण है तथा मेरे जीवन के विषय में भी संदेह नहीं है, तब भी हे प्रिय, आप मत जाइए'॥ १३७॥

प्रिय की यात्रा के अनुकूल कारणों का वर्णन करके भी निज प्रभुत्व से रोक दिया, इससे यह प्रभुत्वाक्षेप हुआ॥ १३८॥

'जीने की मेरी आशा बलवती है और धन की आशा दुर्बल है। हे प्रिय, जाओ या ठहरो, मैंने केवल अपनी अवस्था का वर्णन कर दिया'॥ १३९॥

अनुरागिणी अनादर-युक्त वचन का प्रयोग कर प्रियगमन को रोकती है, इससे यह अनादराक्षेप हुआ॥ १४०॥

'हे नाथ! यदि जाते हो तो जाओ, ईश्वर करे आपका मार्ग सकुशल रहे। (मैं चाहती हूँ कि) मेरा भी वहीं जन्म हो जहाँ आप जाते हैं'॥ १४१॥

आशीर्वाद की चाल पर अपनी अवस्था का वर्णन करती हुई पतियात्रा का प्रतिषेध करती है, इससे यह आशीर्वचनाक्षेप हुआ॥ १४२॥

'यदि आपका जाना निश्चित है तो किसी दूसरी को आप ग्रहण करलें। मैं आज भी मृत्यु से गृहीत हूँ, जो केवल रंध्र खोजता रहता है'॥ १४३॥

प्रेमपराधीना अपने पति के प्रस्थान का कठोर शब्दों द्वारा प्रतिषेध करती है, इसलिए यह परुषाक्षेप है॥ १४४॥

गन्ता चेद्गच्छ तूर्णं ते कर्णं यान्ति पुरा रवाः ।
आर्तबन्धुमुखोद्गीर्णाः प्रयाणप्रतिबन्धिनः ॥ १४५ ॥

साचिव्याक्षेप एवैष यदत्र प्रतिषिध्यते ।
प्रियप्रयाणे साचिव्यं कुर्वत्येवातिरक्तया ॥ १४६ ॥

गच्छेति वक्तुमिच्छामि मत्प्रिय त्वत्प्रियैषिणी ।
निर्गच्छति मुखाद्वाणी मा गा इति करोमि किम् ॥१४७॥

यत्नाक्षेपः स यत्नस्य कृतस्यानिष्टवस्तुनि ।
विपरीतफलोत्पत्तेरानर्थक्योपदर्शनात् ॥ १४८ ॥

क्षणदर्शनविघ्नाय पक्ष्मस्पन्दाय कुप्यतः ।
प्रेम्णः प्रयाणं ते ब्रूहि मया तस्येष्टमिष्यते ॥ १४९ ॥

अयं परवशाक्षेपो यत् प्रेमपरतन्त्रया ।
तया निषिध्यते यात्रान्यस्यार्थस्योपसूचनात् ॥ १५० ॥

सहिष्ये विरहं नाथ देह्यदृश्याञ्जनं मम ।
यदक्तनेत्रां कन्दर्पः प्रहर्ता मां न पश्यति ॥ १५१ ॥

दुष्करं जीवनोपायमुपन्यस्यावरुध्यते ।
पत्युः प्रस्थानमित्याहुरुपायाक्षेपमीदृशम् ॥ १५२ ॥

प्रवृत्तैव प्रयामीति वाणी वल्लभ ते मुखात् ।
अयातापि त्वयेदानीं मन्दप्रेम्णा ममास्ति किम् ॥ १५३ ॥

रोषाक्षेपोयमुद्रिक्तस्नेहनिर्यन्त्रितात्मना ।
संरब्धया प्रियारब्धं प्रयाणं यन्निवार्यते ॥ १५४ ॥

'यदि जाते हैं, तो शीघ्र जाइए नहीं तो (मेरी मृत्यु निश्चित है जिससे मेरे) दुःखी बंधुवर्ग के मुख से निकली हुई चिल्लाहट प्रयाण-प्रतिबंधक होकर आपके कान में पहुँचेगी' ॥ १४५ ॥

अत्यनुरक्ता नायिका प्रिय के जाने में सहायता करती हुई सी ज्ञात होते हुएभी निषेध करती है, इसलिए यहाँ साचिव्याक्षेप हुआ ॥ १४६ ॥

'हे मेरे प्रिय ! मैं तुम्हारा प्रिय चाहनेवाली 'जाओ' ऐसा कहना चाहती हूँ पर मुख से 'मत जाओ' निकलता है। मैं क्या करूँ ?' ॥ १४७ ॥

जो इष्ट नहीं उसका यत्न करने से विपरीत फलोत्पत्ति के कारण विफलता हुई, इससे यह यत्नाक्षेप है ॥ १४८ ॥

'क्षण मात्र (पलक गिरने से) दर्शन में विघ्न करने वाले पलक के स्पंदन से क्रुद्ध प्रेम से जाने को कहिए। उसीका इष्ट मैं चाहती हूँ' ॥ १४९ ॥

प्रेम-परतंत्रा नायिका दूसरे (प्रेम) का कथन कर यात्रा का निषेध करती है, इससे परवशाक्षेप हुआ ॥ १५० ॥

'हे नाथ। मैं विरह सहलूंगी पर मुझे अदृश्य होने का अंजन दीजिए, जिससे उसे नेत्रों में लगाने पर प्रहारशील (दुःखदायी) कामदेव मुझे न देखे' ॥ १५१ ॥

जीवन रखने का दुष्कर उपाय बतलाकर पति का जाना रोकती है, इससे इसे उपायाक्षेप कहते हैं ॥ १५२ ॥

'हे वल्लभ ! तुम्हारे मुख से 'मैं जाता हूँ' यह बात तो निकल ही गई। अब यदि तुम न भी जाओ तो मुझे उससे क्या, क्योंकि तुम्हारा प्रेम तो मंद पड़ ही गया है' ॥ १५३ ॥

अत्यंत प्रबल स्नेह से जो विह्वल हो गई है उस क्रुद्धा नायिका से प्रिय का प्रयाण रोका जाता है, इससे यह रोषाक्षेप है १५४

[मुग्धा कान्तस्य यात्रोक्तिश्रवणादेव मूर्छिता ।
बुद्ध्वा वक्ति प्रियं दृष्ट्वा किं चिरेणागतो भवान् ॥१९५॥

[इति तत्कालसंभूतमूर्छयाक्षिप्यते गतिः ।
कान्तस्य कातराक्ष्या यन्मूर्छाक्षेपः स ईदृशः ॥ १९६ ॥

नाघ्रातं न कृतं कर्णे स्त्रीभिर्मधुनि नार्पितम् ।
त्वद्द्विषां दीर्घिकास्वेव विशीर्णं नीलमुत्पलम् ॥ १९७ ॥

सानुक्रोशोयमाक्षेपः सानुक्रोशमिवोत्पले ।
व्यावर्त्य कर्म तद्योग्यं शोच्यावस्थोपदर्शनात् ॥ १९८ ॥

अर्थो न संभृतः कश्चिन्न विद्या काचिदर्जिता ।
न तपः संचितं किंचिद्गतं च सकलं वयः ॥ १९९ ॥

असावनुशयाक्षेपो यस्मादनुशयोत्तरम् ।
अर्थार्जनादेर्व्यावृत्तिर्दर्शितेह गतायुषा ॥ १६० ॥

अमृतात्मनि पद्मानां द्वेष्टरि स्निग्धतारके ।
मुखेन्दौ तव सत्यास्मिन्नपरेण किमिन्दुना ॥ १६१ ॥

इति मुख्येन्दुराक्षिप्तो गुणान् गौणेन्दुवर्तिनः ।
तत्समान् दर्शयित्वेति श्लिष्टाक्षेपस्तथाविधः ॥ १६२ ॥

किमयं शरदम्भोदः किं वा हंसकदम्बकम् ।
रुतं नूपुरसंवादि श्रूयते तन्न तोयदः ॥ १६३ ॥

इत्ययं संशयाक्षेपः संशयो यन्निवर्त्यते ।
धर्मेण हंससुलभेनास्पृष्टघनजातिना ॥ १६४ ॥

यात्रा की बात सुनतेही मुग्धा कांता मूर्छित हो गई और होश आतेही प्रिय को देख कर पूछा कि 'आप बहुत दिनों पर आए, इतने समय तक कहाँ रहे' ॥ १५५ ॥

कातर दृष्टि वाली ने तत्काल मूर्छित होकर पति के जानेको रोक दिया, इससे मूर्छाक्षेप हुआ ॥ १५६ ॥

'न सुगंध लिया गया, न स्त्रियों के कानों में शोभित हुआ और न पेट में डाला गया। वह नीला कमल शत्रुओं के कूप में नष्ट हो गया' ॥ १५७ ॥

यह अनुक्रोशाक्षेप हुआ क्योंकि उसके योग्य कार्य न हुआ बतलाकर शोचनीय अवस्था दिखलाने से कमल पर अनुक्रोश (दया) सा प्रकट किया गया है ॥ १५८ ॥

'न कुछ धन एकत्र किया, न विद्या ही का संचय किया और न कुछ तपस्या ही की' तब सारी अवस्था ही व्यर्थ बीत गई' ॥ १५९ ॥

यह अनुशयाक्षेप हुआ क्योंकि पश्चात्ताप के अनंतर वृद्ध पुरुष धनादि का संचयन न करना प्रकट करता है ॥ १६० ॥

'अमृत से भरे, कमलों के प्रतिद्वंद्वी और मनोहर तारों से युक्त तुम्हारे मुख-चंद्र के होते इस दूसरे चंद्र की क्या आवश्यकता है?' ॥ १६१ ॥

मुख्य चंद्रमा के गुण गौण चंद्रमा के गुणों के समान दिखलाकर उस पर आक्षेप किया गया है, इस लिए यह श्लिष्टाक्षेप हुआ ॥ १६२ ॥

'क्या यह शरद का मेघ है या हंस का समूह है? नूपुर के शब्द सुन पड़ते हैं, इसलिए यह बादल नहीं है' ॥ १६३ ॥

हंसों में सुगम और बादलों के लिए अयुक्त गुण के कारण संशय का नाश होगया, इस लिए यह संशयाक्षेप हुआ ॥१६४॥

चित्रमाक्रान्तविश्वोपि विक्रमस्ते न तृप्यति ।
कदा वा दृश्यते तृप्तिरुदीर्णस्य हविर्भुजः ॥ १६५ ॥

अयमर्थान्तराक्षेपः प्रक्रान्तो यन्निवार्यते ।
विस्मयोर्थान्तरस्येह दर्शनात् तत्सधर्मणः ॥ १६६ ॥

न स्तूयसे नरेन्द्र त्वं ददासीति कदाचन ।
स्वमेव मत्वा गृह्णन्ति यतस्त्वद्धनमर्थिनः ॥ १६७ ॥

इत्येवमादिराक्षेपो हेत्वाक्षेप इति स्मृतः ।
अनयैव दिशान्येपि विकल्पाः शक्यमूहितुम् ॥ १६८ ॥

[अर्थांतरन्यासः]

ज्ञेयः सोर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किंचन ।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योन्यस्य वस्तुनः ॥ १६९ ॥

विश्वव्यापी विशेषस्थः श्लेषाविद्धो विरोधवान् ।
अयुक्तकारी युक्तात्मा युक्तायुक्तो विपर्ययः ॥ १७० ॥

इत्येवमादयो भेदाः प्रयोगेष्वस्य लक्षिताः ।
उदाहरणमालैषां रूपव्यक्त्यै निदर्श्यते ॥ १७१ ॥

भगवन्तौ जगन्नेत्रे सूर्याचन्द्रमसावपि ।
पश्य गच्छत एवास्तं नियतिः केन लङ्घ्यते ॥ १७२ ॥

पयोमुचः परीतापं हरन्त्येते शरीरिणाम् ।
नन्वात्मलाभो महतां परदुःखोपशान्तये ॥ १७३ ॥

उत्पादयति लोकस्य प्रीतिं मलयमारुतः ।
ननु दाक्षिण्यसंपन्नः सर्वस्य भवति प्रियः ॥ १७४ ॥

'विश्व मात्र को आक्रांत करके भी तुम्हारा यह शौर्य शांत नहीं हुआ । (सत्य ही) कहीं प्रचंडाग्नि की तृप्ति देखी जाती है ?' ॥ १६५ ॥

यह अर्थांतराक्षेप हुआ क्योंकि उसीके समान धर्म युक्त (उदाहरण) दिखलादेने से बढ़ते हुए आश्चर्य का निवारण किया गया ॥ १६६ ॥

'हे राजन् ! तुम्हारी प्रशंसा इसलिए नहीं होती कि तुम जो कुछ देते हो उस तुम्हारे धनको याचकगण अपना ही समझ कर लेते हैं' ॥ १६७ ॥

इस प्रकार के आक्षेप हेत्वाक्षेप कहलाते हैं । इसी प्रकार आक्षेप के अनेक भेद कहे जा सकते हैं ॥ १६८ ॥

[अर्थांतरन्यास अलंकार]

अर्थान्तरन्यास वहाँ कहलाता है, जहाँ प्रस्तुत वस्तु के समर्थन करने के योग्य अन्य वस्तु लाई जाय ॥ १६९ ॥

विश्वव्यापक, विशेष, श्लिष्ट, विरोधी, अयुक्त, युक्त, युक्तायुक्त और उलटा ये अर्थान्तरन्यास के आठ भेद पाए जाते हैं । इनके रूप के स्पष्टीकरण और इसी प्रकार के अन्य भेदों केलिए बहुत से उदाहरण दिये जाते हैं ॥ १७०-१७१ ॥

भगवान् सूर्य और चंद्र, जो जगत के नेत्र हैं, वे भी देखिए, अस्त होते हैं । भला भाग्य का कौन उल्लंघन कर सकता है ॥ १७२ ॥

बादल शरीरधारियों के ताप को हरते हैं । बड़ों का जन्म दूसरों के दुःख को शांत करने केलिए ही होता है ॥ १७३ ॥

मलयाचल की हवा लोगों में प्रसन्नता उत्पन्न करती है । दाक्षिण्य (दक्षिण का या सभ्यता-पूर्ण) से युक्त सबका प्रिय होता ही है ॥ १७४ ॥

जगदाह्लादयत्येष मलिनोपि निशाकरः ।
अनुगृह्णाति हि परान् सदोषोपि द्विजेश्वरः ॥ १७५ ॥

मधुपानकलात् कण्ठान्निर्गतोप्यालिनां ध्वनिः ।
कटुर्भवति कर्णस्य कामिनां पापमीदृशम् ॥ १७६ ॥

अयं मम दहत्यङ्गमम्भोजदलसंस्तरः ।
हुताशनप्रतिनिधिर्दाहात्मा ननु युज्यते ॥ १७७ ॥

क्षिणोतु कामं शीतांशुः किं वसन्तो दुनोति माम् ।
मलिनाचरितं कर्म सुरभेर्नन्वसांप्रतम् ॥ १७८ ॥

कुमुदान्यपि दाहाय किमङ्ग कमलाकरः ।
न हीन्दुगृह्येषूग्रेषु सूर्यगृह्यो मृदुर्भवेत् ॥ १७९ ॥

[व्यतिरेकः]

शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः ।
तत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते ॥ १८० ॥

धैर्यलावण्यगाम्भीर्यप्रमुखैस्त्वमुदन्वतः ।
गुणैस्तुल्योसि भेदस्तु वपुषैवेदृशेन ते ॥ १८१ ॥

इत्येकव्यतिरेकोयं धर्मेणैकत्रवर्तिना ।
प्रतीतिविषयप्राप्तेर्भेदस्योभयवर्तिनः ॥ १८२ ॥

अभिन्नवेलौ गम्भीरावम्बुराशिर्भवानपि ।
असावञ्जनसंकाशस्त्वं तु चामीकरद्युतिः ॥ १८३ ॥

(धब्बों के कारण) मलीन होने पर भी चंद्रमा संसार को प्रसन्न करता है। दोष-युक्त होते हुए भी ब्राह्मणराज दूसरों का भला करता है ॥ १७५ ॥

मधु-पान से मधुर हुए कंठ से निकली हुई भ्रमर-ध्वनि भी कामियों के कानों को कटु जान पड़ती है। पाप ऐसा ही होता है ॥ १७६ ॥

कमल-पत्रों का यह विस्तर मेरे अंगों को जलाता है। क्यों न हो, अग्नि के (रंग के) समान होने से उसका दाहक स्वभाव होना ही चाहिए ॥ १७७ ॥

चंद्रमा को कष्ट देने दो पर बसंत क्यों मुझे दुःख देता है। दुष्टों द्वारा किए गए कर्म ही भले किए जाने पर बुरे मालूम होते हैं ॥ १७८ ॥

जब कोई जलाती है, तब कमल-समूह उससे अधिक अवश्य जलावेगा। चंद्रमा के पक्षवाले जब जलाते हैं तो सूर्य पक्ष वाले मृदु नहीं होंगे ॥ १७९ ॥

[व्यतिरेक अलंकार]

जब शब्दों द्वारा दो वस्तुओं में सादृश्य अभिव्यक्त हो या प्रतीति मात्र हो तब उसीके बीच में भिन्नता दिखलाना व्यतिरेक है ॥ १८० ॥

धीरता, लावण्य और गंभीरता आदि गुणों में आप समुद्र ही के समान हैं, यदि भेद है तो केवल आपके शरीर में, जिसे देख रहे हैं ॥ १८१ ॥

यह एक व्यतिरेक हुआ क्योंकि एक (उपमेय) में स्थित धर्म से ही दानों के बीच की भिन्नता की प्रतीति हुई ॥१८२॥

वेला (मर्यादा, किनारा) को न तोड़ने वाले तथा गंभीर समुद्र और आप दोनों ही हैं पर वह अंजन सा काला और आप सुवर्ण सी कांतिवाले हैं ॥ १८३ ॥

उभयव्यातिरेकोयमुभयोर्भेदकौ गुणौ ।
कार्ष्ण्यं पिशङ्गता चेति यत् पृथग्दर्शितावहि ॥ १८४ ॥
त्वं समुद्रश्च दुर्वारौ महासत्त्वौ सतेजसौ ।
इयता युवयोर्भेदः स जडात्मा पटुर्भवान् ॥ १८५ ॥
स एष श्लेषरूपत्वात् सश्लेष इति गृह्यताम् ।
साक्षेपश्च सहेतुश्च दर्श्यते तदपि द्वयम् ॥ १८६ ॥
स्थितिमानपि धीरोपि रत्नानामाकरोपि सन् ।
तव कक्षां न यात्येव मलिनो मकरालयः ॥ १८७ ॥
वहन्नपि महीं कृत्स्नां सशैलद्वीपसागराम् ।
भर्तृभावाद्भुजंगानां शेषस्त्वत्तो निकृष्यते ॥ १८८ ॥
शब्दोपादानसादृश्यव्यतिरेकोयमीदृशः ।
प्रतीयमानसादृश्योप्यस्ति सोनुविधीयते ॥ १८९ ॥
त्वन्मुखं कमलं चेति द्वयोरप्यनयोर्भिदा ।
कमलं जलसंरोहि त्वन्मुखं त्वदुपाश्रयम् ॥ १९० ॥
अभ्रूविलासमस्पृष्टमदरागं मृगेक्षणम् ।
इदं तु नयनद्वन्द्वं तव तद्गुणभूषितम् ॥ १९१ ॥
पूर्वस्मिन् भेदमात्रोक्तिरस्मिन्नाधिक्यदर्शनम् ।
सदृशव्यतिरेकश्च पुनरन्यः प्रदर्श्यते ॥ १९२ ॥

यह उभय व्यतिरेक है, क्योंकि दोनों के भिन्न गुण-कालापन और पीलापन-अलग अलग स्पष्ट किए गए हैं ॥१८४॥

आप और समुद्र रोकने योग्य नहीं हैं, महासत्व युक्त (जलचर, सत्वगुण) हैं और तेज-धारी (वड़वाग्नि) हैं। दोनों में भेद यही है कि वह जड़ात्मा (जल से भरा) है और आप चतुर हैं ॥ १८५ ॥

श्लेष होने के कारण सश्लेष व्यतिरेक कहा जा सकता है। साक्षेप और सहेतु दोनों व्यतिरेक बतलाए जाते हैं ॥१८६॥

स्थितिमान (दृढ़), धीर और रत्नों का आकर होने पर भी मलीन मकरालय (समुद्र) आपके बराबर नहीं हो सकता ॥ १८७ ॥

पर्वत, द्वीप और समुद्रों से युक्त संपूर्ण पृथ्वी को उठाए हुए होने पर भी शेष भुजंगों के राजा होने के कारण आप से निकृष्ट हैं ॥ १८८ ॥

इस प्रकार शब्दों द्वारा सादृश्य प्रकट करने वाले व्यतिरेक हुए। प्रतीति मात्र से उत्पन्न सादृश्य भी होते हैं। अब वे कहे जाएँगे ॥ १८९ ॥

तुम्हारे मुख और कमल इन दोनों में यही भेद है कि कमल जल से उत्पन्न होता है और तुम्हारा मुख तुम्हारे ही पास है ॥ १९० ॥

मृग के नेत्र में भ्रू-चपलता नहीं है और वे मदिरा के कारण लाल नहीं हैं पर तुम्हारे दोनों नेत्र इन गुणों से विभूषित हैं ॥ १९१ ॥

पहिले में केवल भिन्नता कह दी गई है और दूसरे में आधिक्य दिखलाया गया है। फिर एक और सदृश व्यतिरेक बतलाया जाता है ॥ १९२ ॥

त्वन्मुखं पुण्डरीकं च फुल्ले सुरभिगन्धिनी ।
भ्रमद्भ्रमरमम्भोजं लोलनेत्रं मुखं तु ते ॥ १९३ ॥

चन्द्रोयमम्बरोत्तंसो हंसोयं तोयभूषणम् ।
नभो नक्षत्रमालीदमुत्फुल्लकुमुदं पयः ॥ १९४ ॥

प्रतीयमानशौक्ल्यादिसाम्ययोर्वियदम्भसोः ।
कृतः प्रतीतशुद्ध्योश्च भेदोस्मिंश्चन्द्रहंसयोः ॥ १९५ ॥

पूर्वत्र शब्दवत् साम्यमुभयत्रापि भेदकम् ।
भृङ्गनेत्रादि तुल्यं तत् सदृशव्यतिरेकिता ॥ १९६ ॥

अरत्नालोकसंहार्यमहार्यं सूर्यरश्मिभिः ।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः ॥ १९७ ॥

सजातिव्यतिरेकोयं तमोजातेरिदं तमः ।
दृष्टिरोधितया तुल्यं भिन्नमन्यैरदर्शि यत् ॥ १९८ ॥

[विभावना]

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किंचित् कारणान्तरम् ।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना ॥ १९९ ॥

अपीतक्षीवकादम्बमसंमृष्टामलाम्बरम् ।
अप्रसादितशुद्धाम्बु जगदासीन्मनोहरम् ॥ २०० ॥

तुम्हारा मुख और कमल विकसित तथा सुगंधियुक्त हैं। कमल पर भ्रमर मँडरा रहे हैं और मुख में चंचल नेत्र हैं ॥१८३॥

आकाश का चूड़ामणि चंद्र है और हंस जल का भूषण है। आकाश में तारे जड़े हैं और जल में कमल खिले हैं ॥१८४॥

इस उदाहरण में आकाश और जल की समानता सफेदी से मानली गई है, चंद्र और हंस में भी शुद्धता (स्वच्छता) को साम्य माना हुआ है (आकाश चंद्र का और जल हंसका आश्रय है) इसीसे भेद स्पष्ट है ॥१८५॥

इसके पहले के उदाहरण में शब्दों ही में साम्य दिखलाया गया है। दोनों ही उदाहरणों में भिन्नता प्रदर्शक भ्रमर नेत्र आदि समान हैं इसलिए सदृश्य व्यतिरेक हुआ ॥ १८६ ॥

रत्नों के आलोक से न हटाए जाने योग्य, सूर्य किरणों से न दूर होनेवाला और युवकों की दृष्टि को रोकने वाला अन्धकार यौवनोत्पन्न है ॥ १८७ ॥

यह सजाति व्यतिरेक हुआ क्योंकि (यौवन-प्रसूत) अन्धकार दृष्टिका अवरोध करने से अन्धकार जाति के तुल्य है पर अन्य (धर्मों–रत्नादि से न हटने के वैधर्म्य) से भिन्नता स्पष्ट है ॥ १८८ ॥

[विभावना अलंकार]

प्रसिद्ध कारण को न मानकर जब कुछ अन्य कारण या उसका स्वभावतः होना मान लिया जाता है तब वह विभावना कहलाती है ॥ १८९ ॥

मदिरापान न करने पर भी मत्त हंसों से, न साफ किए जाने पर भी निर्मल आकाश से और न शुद्ध किए जाने पर भी स्वच्छ जल से शरत्काल का संसार मनोहर दिखला रहा है ॥ २०० ॥

अनाञ्जितासिता दृष्टिर्भ्रूरनावर्जिता नता ।
अरञ्जितोरुणश्चायमधरस्तव सुन्दरि ॥ २०१ ॥

यदपीतादिजन्यं स्यात् क्षीबत्वाद्यन्यहेतुकम् ।
अहेतुकं च तस्येह विवक्षेत्यविरुद्धता ॥ २०२ ॥

वक्त्रं निसर्गसुरभि वपुरव्याजसुन्दरम् ।
अकारणरिपुश्चन्द्रो निर्निमित्तासुहृत् स्मरः ॥ २०३ ॥

निसर्गादिपदैरत्र हेतुः साक्षान्निवर्तितः ।
उक्तं च सुरभित्वादि फलं तत् सा विभावना ॥ २०४ ॥

[समासोक्तिः]

वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः ।
उक्तिः संक्षेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते ॥ २०५ ॥

पिबन् मधु यथाकामं भ्रमरः फुल्लपङ्कजे ।
अप्यसंनद्धसौरभ्यं पश्य चुम्बति कुड्मलम् ॥ २०६ ॥

इति प्रौढाङ्गनाबद्धरतिलीलस्य रागिणः ।
कस्यांचिदिह बालायामिच्छावृत्तिर्विभाव्यते ॥ २०७ ॥

विशेष्यमात्रभिन्नापि तुल्याकारविशेषणा ।
अस्त्यसावपराप्यस्ति भिन्नाभिन्नविशेषणा ॥ २०८ ॥

रूढमूलः फलभरैः पुष्णन्ननिशमर्थिनः ।
सान्द्रच्छायो महावृक्षः सोयमासादितो मया ॥ २०९ ॥

हे सुन्दरी, बिना अंजन लगाए तुम्हारी आँखें काली हैं, बिना सिकोड़े तुम्हारी भौं टेढ़ी है और न रँगे जाने पर भी तुम्हारे ओंठ लाल हैं ॥ २०१ ॥

मत्तता आदि मदिरापानादि से न उत्पन्न होकर अन्य से हुई हो या अकारण ही हो पर वे मान ली गई हैं इसलिए कोई विरोधी भाव नहीं है ॥ २०२ ॥

मुख स्वाभाविक सुगंध से युक्त है, शरीर बिना बनावट के सुन्दर है, चंद्र बिना कारण शत्रु है और कामदेव अकारण अमित्र बना हुआ है ॥ २०३ ॥

स्वभावादि पदों से कारणों का स्पष्ट निषेध करके सुगन्धादि फलों का उल्लेख किया गया है, इस लिए विभावना है ॥२०४॥

[समासोक्ति अलंकार]

किसी वस्तु के प्रतिपादन की इच्छा से उसीके समान दूसरी वस्तु का कथन हो तो संक्षेप में होने से उसे समासोक्ति कहते हैं ॥ २०५ ॥

विकसित कमल के मधु को इच्छानुसार पान करते हुए भ्रमर को देखो कि वह (अब) उस कली को चुम्बन करता है, जिसमें पराग परिपक्व नहीं हुआ है ॥ २०६ ॥

इसमें दिखलाया गया है कि कोई कामुक पुरुष किसी प्रौढ़ा स्त्री से कामलीला करते हुए किसी बाला के प्रति इच्छा प्रगट करता है ॥ २०७ ॥

विशेष्यों के भिन्न होने और विशेषणों के समान होने से एक प्रकार की और विशेषणों के कुछ भिन्न तथा कुछ समान होने से दूसरे प्रकार की (समासोक्ति) भी होती है ॥ २०८ ॥

वह महावृक्ष मुझे मिलगया, जिसका जड़ दृढ़ (मूल धन बहुत) है, जो बराबर अर्थियों को फलों के बोझ (दान) से पुष्ट करता है और जिसमें बहुत छाया (वदनकांति) है ॥ २०९॥

अनल्पाविटपाभोगः फलपुष्पसमृद्धिमान् ।
सोच्छ्रायः स्थैर्यवान् दैवादेष लब्धो मया द्रुमः ॥ २१० ॥

उभयत्र पुमान् कश्चिद् वृक्षत्वेनोपवर्णितः ।
सर्वे साधारणा धर्माः पूर्वत्रान्यत्र तु द्वयम् ॥ २११ ॥

निवृत्तव्यालसंसर्गो निसर्गमधुराशयः ।
अयमम्भोनिधिः कष्टं कालेन परिशुष्यति ॥ २१२ ॥

इत्यपूर्वसमासोक्तिः पूर्वधर्मनिवर्तनात् ।
समुद्रेण समानस्य पुंसः व्यापत्तिसूचनात् ॥ २१३ ॥

[अतिशयोक्तिः]

विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी ।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा ॥ २१४ ॥

मल्लिकामालभारिण्यः सर्वाङ्गीणार्द्रचन्दनाः ।
क्षौमवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नायामभिसारिकाः ॥ २१५ ॥

चन्द्रातपस्य बाहुल्यमुक्तमुत्कर्षवत्तया ।
संशयातिशयादीनां व्यक्त्यै किंचिन्निदर्श्यते ॥ २१६ ॥

स्तनयोर्जघनस्यापि मध्ये मध्यं प्रिये तव ।
अस्ति नास्तीति संदेहो न मेऽद्यापि निवर्तते ॥ २१७ ॥

निर्णेतुं शक्यमस्तीति मध्यं तव नितम्बिनि ।
अन्यथानुपपत्त्यैव पयोधरभरस्थितेः ॥ २१८ ॥

भाग्य से मैंने ऐसा भारी वृक्ष पा लिया है जिसकी शाखाओं का बहुत विस्तार है, जो फल पुष्प से भरा है, छायायुक्त है और दृढ़ है ॥ २१० ॥

इन दोनों ही उदाहरणों में कोई पुरुष वृक्ष के गुणों द्वारा वर्णित है। पहिले में सभी गुण (विशेषण श्लेष से) समान हैं और दूसरे में केवल दो हैं (अन्य नहीं) ॥ २११ ॥

शोक है कि यह जलाशय, जो व्यालों (दुष्टों) के संसर्ग से रहित है और स्वभाव ही से जिसका जल (चित्तवृत्ति) मीठा है, समय पाकर शुष्क (नष्ट) हो रहा है ॥ २१२ ॥

किसी पुरुष के नाश की सूचना जिसको समुद्र के समान उसके पूर्व के धर्म का निषेध करके माना गया है, इसलिए अपूर्व समासोक्ति हुई ॥ २१३ ॥

[अतिशयोक्ति अलंकार]

लोकसीमा का उल्लंघन करके वर्णन करने की इच्छा अतिशयोक्ति है। यह उत्तम अलंकार है। जैसे-॥ २१४ ॥

मल्लिका की मालाओं को धारण किए, सर्वांग में आर्द्र चन्दन लगाए तथा श्वेत वस्त्र पहिरे हुई अभिसारिका चंद्रिका में नहीं दिखलाई पड़ती है ॥ २१५ ॥

इसमें चंद्रमा की ज्योत्स्ना का आधिक्य (दूसरों से) बहुत बढ़कर दिखलाया गया है। संशयातिशयोक्ति आदि अन्य भेदों को स्पष्ट करने केलिए उदाहरण दिए जाते हैं॥२१६॥

हे प्रिये, तुम्हारे स्तनों और जघनों के बीच में कटि है या नहीं है यह मेरा संदेह अभी तक नहीं गया ॥ २१७ ॥

हे अच्छे नितंबोंवाली, तुम्हें कटि है इसका निर्णय हो सकता है, क्योंकि यदि न हो तो तुम्हारे भारी स्तनों की स्थिति नहीं स्थापित की जा सकेगी ॥ २१८ ॥

अहो विशालं भूपाल भुवनात्रितयोदरम् ।
माति मातुमशक्योपि यशोराशिर्यदत्र ते ॥ २१९ ॥

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।
वागीशमहिता मुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥ २२० ॥

[उत्प्रेक्षालंकारः]

अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा ।
अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा ॥ २२१ ॥

मध्यंदिनार्कसंतप्तः सरसीं गाहते गजः ।
मन्ये मार्तण्डगृह्याणि पद्मान्युद्धर्तुमुद्यतः ॥ २२२ ॥

स्नातुं पातुं बिसान्यत्तुं करिणो जलगाहनम् ।
तद्वैरनिष्क्रयायेति कविनोत्प्रेक्ष्य वर्ण्यते ॥ २२३ ॥

कर्णस्य भूषणमिदं मदायतिविरोधिनः ।
इति कर्णोत्पलं प्रायस्तव दृष्ट्या विलङ्घ्यते ॥ २२४ ॥

अपाङ्गभागपातिन्या दृष्टेरंशुभिरुत्पलम् ।
स्पृश्यते वा न वेत्येवं कविनोत्प्रेक्ष्य वर्ण्यते ॥ २२५ ॥

लिम्पतीव तमोङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
इतीदमपि भूयिष्ठमुत्प्रेक्षालक्षणान्वितम् ॥ २२६ ॥

केषांचिदुपमाभ्रान्तिरिवश्रुत्येह जायते ।
नोपमानं तिङन्तेनेत्यतिक्रम्याप्तभाषितम् ॥ २२७ ॥

हे राजन् इस त्रिलोक का उदर बहुत ही बड़ा है जहाँ आपकी वह यशोराशि समा जाती है जिसका (समाजाना, नप जाना) अशक्य है ॥ २१९ ॥

विद्वद्गण इस अतिशयोक्ति नामक अलंकार की प्रशंसा करने के लिए कहते हैं कि यह अन्य अलंकारों का परम आश्रय है ॥ २२० ॥

[उत्प्रेक्षा अलंकार]

जब किसी चेतन या अचेतन (प्रस्तुत उपमेय) में (जैसी-उत्प्रेक्षा की जाय उससे भिन्न अर्थात् स्वाभाविक) स्थित गुणों का दूसरी प्रकार से (अप्रस्तुत उपमान रूप) आरोप किया जाय तब उसे उत्प्रेक्षा कहते हैं ॥ २२१ ॥

हाथी मध्यान्ह के सूर्य से संतप्त होकर तालाब में कूद पड़ता है, मानों वह सूर्य के पक्षपाती कमलों को उखाड़ डालने को उद्यत है ॥ २२२ ॥

स्नान करने, पीने तथा कमलनाल को खाने के लिए हाथी का जल में उतरना कवि द्वारा वैर का बदला लेने के रूप में वर्णन किया गया है ॥ २२३ ॥

यह उस कान का अलंकार है जो मेरे विस्तार का विरोधी है इसी से स्यात् नेत्र कर्ण-भूषण पर चढ़ाई कर रहे हैं ॥ २२४ ॥

नेत्र की किरणें कोने की ओर पड़ती हुई कमल को छूती हैं वा नहीं, यही कवि द्वारा उत्प्रेक्षा करते हुए वर्णित है ॥ २२५ ॥

मानों अंधकार अंगों को पोत रहा है, आकाश मानों काजल बरसा रहा है। इस में भी विशेषकर उत्प्रेक्षा ही लक्षित है ॥ २२६ ॥

'मानों (इव)' शब्द को सुनकर कुछ लोग भ्रांति से इसमें उपमा मानते हैं। क्रिया उपमान नहीं हो सकती इस नियम का अतिक्रमण करते हैं ॥ २२७ ॥

उपमानोपमेयत्वं तुल्यधर्मव्यपेक्षया ।
लिम्पतेस्तमसश्चासौ धर्मः कोत्र समीक्ष्यते ॥ २२८ ॥

यदि लेपनमेवेष्टं लिम्पतिर्नाम कोपरः ।
स एव धर्मो धर्मी चेत्यनुन्मत्तो न भाषते ॥ २२९ ॥

कर्ता यद्युपमानं स्यान्नयग्भूतोसौ क्रियापदे ।
स्वाक्रियासाधनव्यग्रो नालमन्यद्व्यपेक्षितुम् ॥ २३० ॥

यो लिम्पत्यमुना तुल्यं तम इत्यापि शंसतः ।
अङ्गानीति न संबद्धं सोपि मृग्यः समो गुणः ॥ २३१ ॥

यथेन्दुरिव ते वक्त्रमिति कान्तिः प्रतीयते ।
न तथा लिम्पतेर्लेपादन्यदत्र प्रतीयते ॥ २३२ ॥

तदुपश्लेषणार्थोयं लिम्पतिर्ध्वान्तकर्तृकः ।
अङ्गकर्मा च पुंसैवमुत्प्रेक्ष्यत इतीक्ष्यताम् ॥ २३३ ॥

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोपि तादृशः ॥ २३४ ॥

[हेत्वलंकारः]

हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम् ।
कारकज्ञापकौ हेतू तौ चानेकविधौ यथा ॥ २३५ ॥

सूचना—आप्त-भाषित = पतंजलि का सूत्र 'न तिङन्तेनो-पमानमस्तीति' है (३. १. ७)

उपमान या उपमेय होने के लिए समान धर्म की अपेक्षा होती है। अंधकार औ पोतने में कौन समान धर्म माना जा सकता है ? ॥ २२८ ॥

यदि लेपन (कार्य) का (समान धर्म) माना जाय तो उससे भिन्न लेपन क्रिया क्या है ! वही धर्म और धर्मी (उपमान) दोनों है, ऐसा पागल के सिवा और कोई न कहेगा ॥ २२९ ॥

यदि कर्ता को उपमान कहें तो वह क्रिया पद (लेपन करना) लुप्त है। वह अपने कार्य के साधन ही में व्यग्र है और इसीलिए दूसरे का कार्य (उपमान उपमेय होना) कहने में असमर्थ है ॥ २३० ॥

'लेपन कर्त्ता अंधकार के समान है' ऐसा कहा जाय तो 'अंगों' शब्द असंबद्ध है और समान धर्म (लेपन कर्ता और अंधकार के बीच) खोजना पड़ेगा ॥ २३१ ॥

'तुम्हारा मुख चंद्र सा है' इस में (समान धर्म) कांति की प्रतीति है पर 'लेपन करने' से लेपन के सिवा और कुछ नहीं होता ॥ २३२ ॥

'लेपन कर रहा है' क्रिया का तात्पर्य लीपना है, अंधकार कर्त्ता है और अंग कर्म है इससे यही निश्चय हुआ कि पुरुष द्वारा उत्प्रेक्षा किया गया है ॥ २३३ ॥

मेरी जान में, मानो, अवश्य, प्रायः (स्यात्), जनु आदि से उत्प्रेक्षा व्यक्त होती है। इव शब्द भी वैसाही है ॥ २३४ ॥

[हेतु अलंकार]

वाणी के हेतु, सूक्ष्म और लेश उत्तम अलंकार हैं। हेतु करने वाला या सूचना देनेवाला होता है और दोनों के अनेक भेद होते हैं जैसे— ॥ २३५ ॥

अयमान्दोलितप्रौढचन्दनद्रुमपल्लवैः ।
उत्पादयति सर्वस्य प्रीतिं मलयमारुतः ॥ २३६ ॥

प्रीत्युत्पादनयोग्यस्य रूपस्यात्रोपबृंहणम् ।
अलंकारतयोद्दिष्टं निवृत्तावपि तत् समम् ॥ २३७ ॥

चन्दनारण्यमाधूय स्पृष्ट्वा मलयनिर्झरान् ।
पथिकानामभावाय पवनोयमुपस्थितः ॥ २३८ ॥

अभावसाधनायालमेवंभूतो हि मारुतः ।
विरहज्वरसंभूतमनोज्ञारोचके जने ॥ २३९ ॥

निर्वर्त्ये च विकार्ये च हेतुत्वं तदपेक्षया ।
प्राप्ये तु कर्मणि प्रायः क्रियापेक्षैव हेतुता ॥ २४० ॥

हेतुर्निर्वर्तनीयस्य दर्शितः शेषयोर्द्वयोः ।
दत्वोदाहरणद्वन्द्वं ज्ञापको वर्णयिष्यते ॥ २४१ ॥

उत्प्रवालान्यरण्यानि वाप्यः संफुल्लपङ्कजाः ।
चन्द्रः पूर्णश्च कामेन पान्थदृष्टेर्विषं कृतम् ॥ २४२ ॥

मानयोग्यां करोमीति प्रियस्थाने कृतां सखीम् ।
बाला भ्रूभङ्गजिह्माक्षी पश्यति स्फुरिताधरम् ॥ २४३ ॥

गतोस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने ॥ २४४ ॥

यह मलय-मारुत बड़े चंदन-वृक्षों के पत्तों को हिलाकर सब में प्रसन्नता उत्पन्न करता है ॥ २३६ ॥

यहाँ प्रसन्नता के उत्पन्न करने के योग्य आश्चर्यजनक वर्णन ही अलंकारता है। यह प्रवृत्ति हुई और इसी प्रकार निवृत्ति (निषेध, घटाना) में भी अलंकारत्व होता है ॥ २३७ ॥

चंदन वन को हिलाकर और मलय पर्वत के झरनों को छूकर यह वायु पथिकों के विनाशार्थ उपस्थित हुआ है ॥२३८॥

ऐसा वायु वैसे मनुष्यों के विनाश-साधन में समर्थ हुआ, जिनमें विरहाग्नि से मनोहर वस्तुओं में अरुचि होगई थी ॥२३९॥

जिसकी उत्पत्ति होना है या जिसका रूप बदलना है उसमें हेतुत्व अपेक्षित है पर जिसे केवल प्राप्त करना है उसकी हेतुता प्रायः क्रिया से ही अपेक्षित है ॥ २४० ॥

[सूचना-वस्त्र बीनना, पुत्र प्रसव करना उत्पत्ति है, काठ को जलाना, सोने का कुण्डल बनाना विकृति है और घर को जाना, सूर्य को देखना प्राप्ति है ॥

उत्पत्ति कर्म वाला हेतु (श्लो० सं० २३६ और २३८ उदाहरणों में) दिखलाया जा चुका है। शेष दो के दो उदाहरण देकर ज्ञापक का वर्णन किया जायगा ॥ २४१ ॥

अंकुरित पत्तों युक्त जंगल, विकसित कमलों सहित तालाब और पूर्ण चंद्र कामदेव द्वारा पथिकों की दृष्टि में विष बना दिए गए ॥ २४२ ॥

अपने को मानिनी के योग्य बनाने के लिए बाला अपनी सखी को पति के स्थान पर समझ कर स्फुरण करते हुए ओठों और भौं के संकुचित करने से तिरछी आँखों से उसकी ओर देखती है ॥ २४३ ॥

सूर्य अस्त होगया, चंद्रमा प्रकाश कर रहा है, पक्षिगण घोंसलों को जाते हैं, ये सब समय की सूचना देने के लिए अच्छे हैं ॥२४४॥

अबाध्यैरिन्दुपादानामसाध्यैश्चन्दनाम्भसाम् ।
देहोष्माभिः सुबोधं ते सखि कामातुरं मनः ॥ २४५ ॥

इति लक्ष्याः प्रयोगेषु रम्या ज्ञापकहेतवः ।
अभावहेतवः केचिद्व्याक्रियन्ते मनोहराः ॥ २४६ ॥

अनभ्यासेन विद्यानामसंसर्गेण धीमताम् ।
अनिग्रहेण चाक्षाणां व्यसनं जायते नृणाम् ॥ २४७ ॥

गतः कामकथोन्मादो गलितो यौवनज्वरः ।
क्षतो मोहश्च्युता तृष्णा कृतं पुण्याश्रमे मनः ॥ २४८ ॥

वनान्यमूनि न गृहाण्येता नद्यो न योषितः ।
मृगा इमे न दायादास्तन्मे नन्दति मानसम् ॥ २४९ ॥

अत्यन्तमसदार्याणामनालोचितचेष्टितम् ।
अतस्तेषां विवर्धन्ते सततं सर्वसंपदः ॥ २५० ॥

उद्यानसहकाराणामनुद्भिन्ना न मञ्जरी ।
देयः पथिकनारीणां सतिलः सलिलाञ्जलिः ॥ २५१ ॥

प्रागभावादिरूपस्य हेतुत्वामिह वस्तुनः ।
भावाभावस्वरूपस्य कार्यस्योत्पादनं प्रति ॥ २५२ ॥

हे सखी, तुम्हारे शरीर की गर्मी से, जिसे न चन्द्र किरणें शांत कर सकती हैं और न चंदन-जल से जो साध्य है, यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि तुम्हारा मन काम-पीड़ित है ॥ २४५ ॥

ये तथा दूसरे रमणीय ज्ञापक-हेतु काव्य-प्रयोग में मिलते हैं। अब कुछ मनोहर अभाव हेतु का वर्णन किया जाता है ॥ २४६ ॥

विद्या के अनभ्यास से, विद्वानों का साथ न करने से और इन्द्रियों को वश में न रखने से मनुष्यों में दुष्प्रवृत्ति पैदा होती है ॥ २४७ ॥

कामकथा के उन्माद का अन्त होगया, जवानी की गर्मी शांत होगई, मोह छुट गया और तृष्णा नष्ट हो गई। अब मन पुण्याश्रम (चौथा आश्रम) में लग गया है ॥ २४८ ॥

ये जंगल घर नहीं है, ये नदियाँ स्त्री नहीं है और न ये मृग संबंधी है। इसीसे ये मेरे हृदय को आनंद देते हैं ॥२४९॥

सत्पुरुषों की चेष्टाएँ बिना विचार की हुई सर्वथा होती ही नहीं; इसीलिए उनकी सभी संपदाएँ सर्वदा बढ़ती रहती हैं ॥ २५० ॥

उद्यान के आम्रवृक्ष की मंजरी अविकसित नहीं रहगई है। अर्थात् वसंत का आगमन हो गया है इसलिए पथिकों की स्त्रियों को (प्रोषितपतिका) तिलयुक्त जलांजलि देना है (क्योंकि वे विरह से अवश्य मर जाएँगी) ॥ २५१ ॥

इन (पाँच) उदाहरणों में प्राक् अभावादि रूप वाले वस्तु के हेतुत्व से भाव और अभाव रूप के कार्य का उत्पादन किया गया है ॥ २५२ ॥

दूरकार्यस्तत्सहजः कार्यानन्तरजस्तथा ।
अयुक्तयुक्तकार्यौ चेत्यसंख्याश्चित्रहेतवः ॥ २९३ ॥

तेमी प्रयोगमार्गेषु गौणवृत्तिव्यपाश्रयाः ।
अत्यन्तसुन्दरा दृष्टास्तदुदाहृतयो यथा ॥ २९४ ॥

त्वदपाङ्गाह्वयं जैत्रमनङ्गास्त्रं यदङ्गने ।
मुक्तं तदन्यतस्तेन सोस्म्यहं मनसि क्षतः ॥ २९५ ॥

आविर्भवति नारीणां वयः पर्यस्तशैशवम् ।
सहैव पुंसां विविधैरङ्गजोन्मादविभ्रमैः ॥ २९६ ॥

पश्चात् पर्यस्य किरणानुदीर्णं चन्द्रमण्डलम् ।
प्रागेव हरिणाक्षीणामुदीर्णो रागसागरः ॥ २९७ ॥

राज्ञां हस्तारविन्दानि कुड्मलीकुरुते कुतः ।
देव त्वच्चरणद्वन्द्वरागबालातपः स्पृशन् ॥ २९८ ॥

पाणिपद्मानि भूपानां संकोचयितुमीशते ।
त्वत्पादनखचन्द्राणामर्चिषः कुन्दनिर्मलाः ॥ २९९ ॥

इति हेतुविकल्पानां दर्शिता गतिरीदृशी ।

[सूक्ष्मः]

इङ्गिताकारलक्ष्योर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः ॥२६०॥

[सूचना—अभाव पाँच प्रकार का होता है—प्राक्, प्रध्वंस, अन्योन्य, अत्यन्त और संसर्ग। ये पाँच उदाहरण क्रमशः इन्हीं पाँचों अभावों के हैं।

जिसका कार्य दूर हो, साथ ही हो, कार्य के अनंतर हो, अनुचित हो या उचित हो, इस प्रकार से असंख्य चित्र हेतु होते हैं ॥ २५३ ॥

ये गौण रूप से आरोपित होने पर काव्यप्रयोग में अत्यंत मनोहर दिखलाई पड़ते हैं। यहाँ इनके उदाहरण (क्रमशः) दिए जाते हैं ॥ २५४ ॥

हे सुन्दरी, तुम्हारे आँखों का इशारा, जो काम का जयशील अस्त्र है यद्यपि अन्य पर चलाया गया है पर मैं हृदय से घायल हो गया हूं ॥ २५५ ॥

शैशवावस्था को समाप्त कर स्त्रियों का यौवन, पुरुषों में कामोन्माद के अनेक प्रकार के विलासों के साथ, आविर्भूत होता है ॥ २५६ ॥

किरणों का चारों ओर फैलाने के पश्चात् चन्द्रमंडल पूरा उदय हुआ। मृगनैनियों का प्रेम-समुद्र इसके पहिले ही बढ़ गया ॥ २५७ ॥

हे देव, आपके चरण युगल की लालिमा के समान नव सूर्य राजाओं के कर रूपी कमलों को छूने ही क्यों संकुचित कर देता है ॥ २५८ ॥

आप के पद-नख-चन्द्रों की कुन्द फूल के समान निर्मल किरणें राजाओं के कर-कमलों को संकुचित करने में समर्थ हैं ॥ २५९ ॥

इस प्रकार हेतु अलंकार के भेदों की चाल दिखलाई गई।

[सूक्ष्म अलंकार]

शारीरिक चेष्टा या आंतरिक भाव से अनुमानित होने से सूक्ष्मता के कारण सूक्ष्म कहलाता है ॥ २६० ॥

कदा नौ संगमो भावीत्याकीर्णे वक्तुमक्षमम् ।
अवेत्य कान्तमबला लीलापद्मं न्यमीलयत् ॥२६१॥

पद्मसंमीलनादत्र सूचितो निशि संगमः ।
आश्वासयितुमिच्छन्त्या प्रियमङ्गजपीडितम् ॥२६२॥

त्वदर्पितदृशस्तस्या गीतगोष्ठ्यामवर्धत ।
उद्दामरागतरला छाया कापि मुखाम्बुजे ॥२६३॥

इत्यनुद्भिन्नरूपत्वाद्रत्युत्सवमनोरथः ।
अनुल्लङ्घ्यैव सूक्ष्मत्वमभूदत्र व्यवस्थितः ॥२६४॥

[लेशः]

लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ।
उदाहरण एवास्य रूपमाविर्भविष्यति ॥२६५॥

राजकन्यानुरक्तं मां रोमोद्भेदेन रक्षकाः ।
अवगच्छेयुराः ज्ञातमहो शीतानिलं वनम् ॥२६६॥

आनन्दाश्रु प्रवृत्तं मे कथं दृष्ट्वैव कन्यकाम् ।
अक्षि मे पुष्परजसा वातोद्धूतेन दूषितम् ॥२६७॥

इत्येवमादिस्थानेयमलंकारेतिशोभते ।
लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं वा लेशतः कृताम् ॥२६८॥

युवैष गुणवान् राजा योग्यस्ते पतिरूर्जितः ।
रणोत्सवे मनः सक्तं यस्य कामोत्सवादपि ॥२६९॥

'हम दोनों का संयोग कब होगा' ऐसा पूछने पर प्रेमी से उस भीड़ में बोलने में अपने को अक्षम जानकर अबला ने खिलवाड़ में लिए हुए कमल को बंद कर दिया ॥ २६१ ॥

कामोत्पीड़ित प्रिय को आश्वासन देने की इच्छा से यहाँ कमल को बन्द करके रात्रि में संयोग होना सूचित किया गया है ॥ २६२ ॥

संगीत शास्त्र में तुम्हारी ओर देखते हुए उसके मुख कमल पर उद्दीप्त अनुराग से अवर्णनीय प्रकाशमान कांति बढ़ी ॥ २६३ ॥

इसमें काम-लीला की इच्छा स्पष्ट रूप से सूक्ष्मता का उल्लंघन न करते हुए वर्णित हुई है ॥ २६४ ॥

[लेश अलंकार]

स्वल्प (बहाने) से प्रकट होने वाले गोप्य विषय के रूप को छिपाना लेश कहलाता है। उदाहरण ही से इसका रूप स्पष्ट होजायगा ॥ २६५ ॥

रक्षकगण रोमांच के कारण यह भेद जान जायँगे कि मैं राजकन्या में अनुरक्त हूँ। हाँ ठीक है, ओह वनकी हवा कैसी ठंढी है ॥ २६६ ॥

इस कन्या को देखते ही मेरे आनंदाश्रु क्यों निकले पड़ते हैं। मेरी आँखें वायु से उड़ाए गए पुष्प पराग से पीड़ित हैं ॥ २६७ ॥

इन में यह अलंकार बहुत शोभा पाता है। दूसरे स्वल्प बहाने से किए गए निंदा या स्तुति को लेश कहते हैं ॥२६८॥

यह राजा युवा, गुणवान औ तेजस्वी होने से तुम्हारा पति होने योग्य है, पर उसका मन कामलीला से अधिक युद्ध में आसक्त रहता है ॥ २६९ ॥

वीर्योत्कर्षस्तुतिर्निन्दैवास्मिन् भावनिवृत्तये ।
कन्यायाः कल्पते भोगान् निर्विविक्षोर्निरन्तरान् ॥२७०॥

चपलो निर्दयश्चासौ जनः किं तेन मे सखि ।
आगःप्रमार्जनायैव चाटवो येन शिक्षिताः ॥२७१॥

दोषभासो गुणः कोपि दर्शितश्चाटुकारिता ।
मानं सखिजनोद्दिष्टं कर्तुं रागादशक्तया ॥२७२॥

[यथासंख्यालंकारः]

उद्दिष्टानां पदार्थानामनूद्देशो यथाक्रमम् ।
यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि ॥२७३॥

ध्रुवं ते चोरिता तन्वि स्मितेक्षणमुखद्युतिः ।
स्नातुमम्भःप्रविष्टायाः कुमुदोत्पलपङ्कजैः ॥२७४॥

[प्रेयः, रसवद्, ऊर्जस्वि]

प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद् रसपेशलम् ।
तेजस्वि रूढाहंकारं युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम् ॥२७५॥

अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः ॥२७६॥

उसकी वीरता का यह उत्कर्ष निरंतर भोग की अभिलाषा रखने वाली कन्या के (बरण करने के) भाव को हटाने के विचार से स्तुति रूप में निंदा है ॥ २७० ॥

यह पुरुष चपल और निर्दय है। हे सखी, उससे मुझे क्या ? उसने अपराध मिटाने के लिए बहुत सा प्रिय आलाप सीख रखा है ॥ २७१ ॥

सखियों द्वारा सिखलाए जाने पर प्रेम के कारण मान करने में अशक्त (नायिका) से चाटुकारितामें, जो गुण (स्त्रियों का रुचि कारक) है, दोष का आभास दिखलाया जाता है ॥ २७२ ॥

[यथासंख्य अलंकार]

पहिले कहे हुए पदार्थों का उसी क्रम से फिर दुहराया जाना यथासंख्य अलंकार कहलाता है । इसे संख्यानक्रम भी कहते हैं ॥ २७३ ॥

हे कृशांगी ! तुम्हारी मुस्कराहट, नेत्र और मुख की द्युति को श्वेतकमल, नीलकमल और लाल कमल ने अवश्य ही चोराया है, क्योंकि तुमने स्नान के लिए जल में प्रवेश किया था ॥ २७४ ॥

[प्रेय, रसवत् और ऊर्जस्वि अलंकार]

अत्यन्त प्रिय कथन को प्रेय कहते हैं। रस से (उसके रत्यादि स्थायी भावों से) उत्पन्न आनन्द-कारक कथन रसवत् कहलाता है । जहाँ अहंकार स्पष्ट कहा जाय वहाँ तेजस्वी (या ऊर्जस्वी) अलंकार कहलाता है। यह तीनों उत्कर्ष का वर्णन करते हैं ॥ २७५ ॥

हे गोविंद, मेरे घर पर आपके आने से जो मुझे आज प्रसन्नता हुई है वह आपके फिर आने ही पर समय पाकर होगी (अन्यथा नहीं) ॥ २७६ ॥

इत्याह युक्तं विदुरो नान्यतस्तादृशी धृतिः ।
भक्तिमात्रसमाराध्यः सुप्रीतश्च ततो हरिः ॥२७७॥
सोमः सूर्यो मरुद्भूमिर्व्योम होतानलो जलम् ।
इति रूपाण्यतिक्रम्य त्वां द्रष्टुं देव के वयम् ॥२७८॥
इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद्रातवर्मणः ।
प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम् ॥२७९॥
मृतेति प्रेत्य संगन्तुं यया मे मरणं मतम् ।
सैवावन्ती मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि ॥२८०॥
प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृङ्गारतां गता ।
रूपबाहुल्ययेगेन तादिदं रसवद्वचः ॥२८१॥
निगृह्य केशेष्वाकृष्टा कृष्णा येनाग्रतो मम ।
सोयं दुःशासनः पापो लब्धः ।किं जीवति क्षणम् ॥२८२॥
इत्यारुह्य परां कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गतः ।
भीमस्य पश्यतः शत्रुमित्येतद्रसवद्वचः ॥२८३॥
अजित्वा सार्णवामूर्वीमनिष्ट्वा विविधैर्मखैः ।
अदत्वा चार्थमर्थिभ्यो भवेयं पार्थिवः कथम् ॥२८४॥

यह विदुरजी ने बहुत योग्य कहा है, दूसरों से ऐसे धैर्य की नहीं (आशा की जासकती)। भक्ति मात्र ही से पूज्य हरि भगवान इससे बड़े प्रसन्न हुए ॥ २७७ ॥

हे देव, आपको देखने की हमें कहाँ शक्ति है, आप चंद्र, सूर्य, वायु, पृथ्वी, आकाश, आचार्य, अग्नि और जल के रूपों को अतिक्रमण कर गए हैं ॥ २७८ ॥

साक्षात् ईश्वर को देख लेने पर राजा रातवर्मा * ने जो प्रसन्नता दिखलाई है वही प्रेय समझना चाहिए ॥ २७९ ॥

[ये दोनों प्रेय के उदाहरण हैं ।]

जिसे मृत समझकर परलोक में मिलने की इच्छा से मैं मरने का निश्चय कर रहा था, वही (कृशांगी) अवंती † राजकुमारी किस प्रकार इसी जन्म में मुझे मिल गई ॥ २८० ॥

पहिले प्रसन्नता ही प्रदर्शित की गई थी। स्वरूप (विभावादि) की अधिकता के सम्बन्ध से (स्थायी भाव) प्रेम (अलौकिक आनंदोत्पत्ति से) शृङ्गार रसत्व को प्राप्त हुआ, इससे रसवत् अलंकार हुआ ॥ २८१ ॥

जिसने मेरे सामने कृष्णा को बाल पकड़ कर खींचा था, वही पापी दुःशासन सामने आ गया है। क्या यह इस क्षण (अब) जीता रहेगा ? ॥ २८२ ॥

शत्रु (आलंबन) को देखकर भीम का क्रोध (स्थायी भाव) बहुत ही बढ़कर रौद्र रसत्व को प्राप्त हो गया, इससे यह रसवद् अलंकार युक्त कथन हुआ ॥ २८३ ॥

समुद्रों सहित पृथ्वी को विना जीते हुए, अनेक यज्ञ विना किए हुए और याचकों को विना धन दिए हुए किस प्रकार हम राजा हो सकते हैं ॥ २८४ ॥

* राजवर्मा पाठ अन्यत्र मिलता है।
† पाठा० सैषा वन्ति ।

इत्युत्साहः प्रकृष्टात्मा तिष्ठन् वीररसात्मना ।
रसवत्त्वं गिरामासां समर्थयितुमीश्वरः ॥२८५॥

यस्याः कुसुमशय्यापि कोमलाङ्ग्या रुजाकरी ।
साधिशेषे कथं देवि हुताशनवतीं चिताम् ॥२८६॥

इति कारुण्यमुद्रिक्तमलंकारतया स्मृतम् ।
तथापरेऽपि बीभत्सहास्याद्भुतभयानकाः ॥२८७॥

पायं पायं तवारीणां शोणितं पाणिसंपुटैः ।
कौणपाः सह नृत्यन्ति कबन्धैरन्त्रभूषणैः ॥२८८॥

इदमम्लानमानाया लग्नं स्तनतटे तव ।
छाद्यतामुत्तरीयेण नवं नखपदं सखि ॥२८९॥

अंशुकानि प्रवालानि पुष्पं हारादिभूषणम् ।
शाखाश्च मन्दिराण्येषां चित्रं नन्दनशाखिनाम् ॥२९०॥

इदं मघोनः कुलिशं धारासंनिहितानलम् ।
स्मरणं यस्य दैत्यस्त्रीगर्भपाताय कल्पते ॥२९१॥

वाच्यस्याग्राम्यतायोनिर्माधुर्ये दर्शितो रसः ।
इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ॥२९२॥

अपकर्ताहमस्मीति हृदि ते मा स्म भूद्भयम् ।
विमुखेषु न मे खड्गः प्रहर्तुं जातु वाञ्छति ॥२९३॥

इसमें उत्साह (स्थायी भाव) अत्यन्त तीव्र होने से वीर रसात्मक होगया और इस से इन कथनों को रसवत् बना सका ॥ २८५ ॥

हे देवि ! तुम, जिसके कोमल शरीर को फूलों की शैय्या भी कष्टकर होती थी, अब किस प्रकार बलती चिता पर सोई हो ? ॥ २८६ ॥

इसमें शोक (स्थायी भाव) के उबाल से (करुण) रसत्व प्राप्त होकर रसवत् अलंकार हुआ । इसी प्रकार अन्य (रस) वीभत्स, हास्य, अद्भुत और भयानक में भी होगा ॥ २८७ ॥

तुम्हारे शत्रु के रक्त को अंजुलियों से पी पीकर और अँतड़ियों का आभूषण पहिर कर राक्षस कबंधों के साथ नाच रहे हैं ॥ २८८ ॥

हे सखी, यद्यपि तुम्हारा मान कम नहीं हो रहा है पर स्तन के ऊपर पड़े हुए नए नख क्षत को (नायक के साथ क्रीड़ा करने का चिन्ह) तो आँचल से छिपालो ॥ २८९ ॥

आश्चर्य है कि कल्पवृक्ष के नए पत्ते वस्त्र का, फूल हार आदि भूषण का और शाखाएँ (कुंज) घर का काम दे रही हैं ॥ २९० ॥

यह इन्द्र का वज्र है जिसकी धार अग्नि युक्त है और जिसके स्मरण ही से दैत्यस्त्रियों का गर्भपात हो जाता है ॥ २९१ ॥

ग्राम्यता दोष के अभाव तथा माधुर्य से कथन में रसोत्पत्ति हुई । इस प्रकार आठ रसों युक्त होना रसवत् अलंकार का कारण है ॥ २९२ ॥

'मैं अपकार करनेवाला हूँ' ऐसा समझ कर हृदय में मेरी ओर से भय मत करो । विमुख होजाने वालों पर मेरी तलवार कभी चोट करना नहीं चाहती ॥ २९३ ॥

इति मुक्तः परो युद्धे निरुद्धो दर्पशालिना ।
पुंसा केनापि तज्ज्ञेयमूर्जस्वीत्येवमादिकम् ॥२९४॥

[पर्यायोक्तम्]

अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात् तस्यैव सिद्धये ।
यत् प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते ॥२९५॥

दशत्यसौ परभृतः सहकारस्य मञ्जरीम् ।
तमहं वारयिष्यामि युवाभ्यां स्वैरमास्यताम् ॥२९६॥

संगमय्य सखीं यूना संकेते तद्रतोत्सवम् ।
निर्वर्तयितुमिच्छन्त्या कयाप्यपसृतं ततः ॥२९७॥

[समाहितम्]

किंचिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः ।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम् ॥२९८॥

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे नमस्यतः ।
उपकाराय दिष्ट्यैतदुदीर्णं घनगर्जितम् ॥२९९॥

[उदात्तम्]

आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम् ।
उदात्तं नाम तत् प्राहुरलंकारं मनीषिणः ॥३००॥

गुरोः शासनमत्येतुं न शशाक स राघवः ।
यो रावणशिरश्छेदकार्यभारेऽप्यविक्लवः ॥३०१॥

इस तरह कहकर किसी दर्पशील पुरुष ने युद्ध में घिरे शत्रु को छोड़ दिया। इसी प्रकार के कथनों को ऊर्जस्वि कहते हैं ॥ २९४ ॥

[पर्यायोक्ति अलंकार]

इष्ट अर्थ को स्पष्ट न कहकर अर्थसिद्धि के लिए उसे प्रकारान्तर से कहना ही पर्यायोक्ति अलंकार कहलाता है ॥ २९५ ॥

आम की मंजरी को वह कोयल काट रही है, उसे मैं हटा दूँ। तुम दोनों स्वच्छंद होकर यहाँ बैठो ॥ २९६ ॥

विलास करने के लिए अपनी सखी को संकेत स्थान में प्रिय युवक से मिलाकर हट जाने की इच्छा से कोई (चतुर स्त्री) वहाँ से चली गई ॥ २९७ ॥

[समाहित अलंकार]

किसी कार्यके आरंभ करने में उद्यत होते ही दैवयोग से उसके साधन की प्राप्ति होजाना ही समाहित अलंकार कहलाता है ॥ २९८ ॥

उसके मान को दूर करने के लिए ज्योंही उसके पैरों पर गिरना चाहता था कि भाग्यसे (मेरा) उपकार करने के लिए बादल गरजने लगा ॥ २९९ ॥

[उदात्त अलंकार]

(वर्णनीय के) अभिप्राय या संपत्ति के अलौकिक महत्व (से पूर्ण वर्णन) को विद्वानों ने उदात्त अलंकार कहा है ॥ ३०० ॥

[प्रस्तुत के औदार्यादि गुणों के अतिशय तथा विचित्र आधिक्य वर्णन से उदात्त दो प्रकार का हुआ।

जो राघव रावण के शिर काटने के कार्यभार से विकल नहीं हुए वे पिता की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सके ॥ ३०१ ॥

रत्नभित्तिषु संक्रान्तैः प्रतिबिम्बशतैर्वृतः ।
ज्ञातो लङ्केश्वरः कृच्छ्रादाञ्जनेयेन तत्त्वतः ॥३०२॥

पूर्वत्राशयमाहात्म्यमत्राभ्युदयगौरवम् ।
सुव्यञ्जितमिति व्यक्तमुदात्तद्वयमप्यदः ॥३०३॥

[अपह्नुतिः]

अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थदर्शनम् ।
न पञ्चेषुः स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणामिति ॥३०४॥

चन्दनं चन्द्रिका मन्दो गन्धवाहश्च दक्षिणः ।
सेयमग्निमयी सृष्टिः शीता किल परान् प्रति ॥३०५॥

शैशिर्यमभ्युपेत्यैव परेष्वात्मनि कामिना ।
औष्ण्यप्रदर्शनात् तस्य सैषा विषयानिह्नुतिः ॥३०६॥

अमृतस्यन्दिकिरणश्चन्द्रमा नामतो मतः ।
अन्य एवायमर्थात्मा विषनिष्यन्दिदीधितिः ॥३०७॥

इति चन्द्रत्वमेवेन्दोर्निर्वर्त्यार्थान्तरात्मता ।
उक्ता स्मरार्तेनेत्येषा स्वरूपापह्नुतिर्मता ॥३०८॥

उपमापह्नुतिः पूर्वमुपमास्वेव दर्शिता ।
इत्यपह्नुतिभेदानां लक्ष्यौ लक्ष्येषु विस्तरः ॥३०९॥

रत्नों की दीवालों में प्रतिबिंबित सैकड़ों रावणों से घिरे हुए लंकेश्वर को अंजनीसुत हनुमान ने कठिनाई से पहिचाना ॥ ३०२ ॥

पहिले में (गुरु की आज्ञा) मनोवृत्ति का माहात्म्य और दूसरे में विभूति के आधिक्य-गौरव का स्पष्टीकरण है। ये दो प्रकार के उदात्त हुए ॥ ३०३ ॥

[अपह्नुति अलंकार]

कुछ (सत्य) छिपाकर अन्य (असत्य) कहा जाना अपह्नुति है। जैसे—काम-देव पंचशर नहीं सहस्र शर युक्त है ॥ ३०४ ॥

चंदन, चाँदनी और दक्षिण की मृदु मलय समीर ये (मेरे लिए) अग्निमयी रचना हैं। दूसरों के लिए ये शीतल हैं ॥ ३०५ ॥

इसमें विरही ने दूसरों के लिए शीतलता को मानते हुए अपने लिए उसकी गर्मी का होना प्रदर्शित किया है, इसलिए यह विषयापह्नुति है ॥ ३०६ ॥

चंद्रमा की किरणें नाम मात्र को अमृत बरसाने वाली कही जाती हैं। यह कुछ और ही है। इसकी किरणें विष बरसाने-वाली हैं ॥ ३०७ ॥

कामार्त पुरुष ने चंद्रमा के चंद्रत्व (आह्लादजनकत्व) का निषेध करके अन्य (विपरीत) स्वभाव बतलाया है, इसलिए यह स्वरूपापह्नुति ॥ ३०८ ॥

उपमा के वर्णन में उपमापह्नुति का उल्लेख हो चुका है। अपह्नुति के भेदों का विस्तार साहित्य में इसी प्रकार किया जाना चाहिए ॥ ३०९ ॥

[श्लेषः]

श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः ।
तदभिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा ॥३१०॥

असावुदयमारूढः कान्तिमान् रक्तमण्डलः ।
राजा हरति लोकस्य हृदयं मृदुभिः करैः ॥३११॥

दोषाकरेण संबध्नन्नक्षत्रपथवर्तिना ।
राज्ञा प्रदोषो मामित्थमप्रियं किं न बाधते ॥३१२॥

उपमारूपकाक्षेपव्यतिरेकादिगोचराः ।
प्रागेव दर्शिताः श्लेषा दर्श्यन्ते केचनापरे ॥३१३॥

अस्त्यभिन्नक्रियः कश्चिदविरुद्धक्रियोपरः ।
विरुद्धकर्मा चास्त्यन्यः श्लेषो नियमवानपि ॥३१४॥

नियमाक्षेपरूपोक्तिरविरोधी विरोध्यपि ।
तेषां निदर्शनेष्वेव रूपव्यक्तिर्भविष्यति ॥३१५॥

वक्राः स्वभावमधुराः शंसन्त्यो रागमुल्बणम् ।
दृशो दूत्यश्च कर्षन्ति कान्ताभिः प्रेषिताः प्रियान् ॥३१६॥

[श्लेष अलंकार]

एक रूप होते हुए भी अनेक अर्थ सहित वाक्य श्लेष अलंकार से युक्त कहलाता है । यह दो प्रकार का होता है- एक जिसमें समान पद हों और दूसरा जिसमें समान पद न हों ॥ ३१० ॥

राजा (चन्द्रमा) उन्नति को पहुँचकर (उदय होकर), कांति (प्रभा) युक्त होकर और राज्यके अनुरक्त (लाल मंडल) होने से लोगों के हृदय को मृदु करों (किरणों) से प्रसन्न करता है ॥ ३११ ॥

यह रात्रि-आगमन (दुष्ट पुरुष) निशाकर (दोषों का आकर) तथा नक्षत्रपथवर्ती (क्षात्रधर्म से च्युत) चन्द्रमा (राजा) के संबंध से मुझ प्रियाहीन (राजा के आँखों से गिरा हुआ) को क्यों न कष्ट देगा ॥ ३१२ ॥

उपमा, रूपक, आक्षेप, व्यतिरेक आदि में आए हुए श्लेष पहिले ही दिखलाए जा चुके हैं। कुछ दूसरे यहाँ दिखलाए जायँगे ॥ ३१३ ॥

कुछ समान क्रिया युक्त होते हैं और अन्य जिनमें क्रियाएँ विरोधी नहीं होतीं । कुछ में विरोधी क्रियाएँ होती हैं और कुछ दूसरे श्लेष नियम-युक्त होते हैं ॥ ३१४ ॥

नियम आक्षेप युक्त उक्ति, अविरोधी और विरोधी भी भेद हैं, जिनका रूप उदाहरणों से व्यक्त हो जायगा ॥ ३१५ ॥

कांताओं से भेजी हुई (डाली हुई) बातें बनाने में निपुण (तिरछी) और प्रिय स्वभाववाली (स्वाभाविक मनोहर) दूतियाँ और आँखें प्रेम के आधिक्य का वर्णन कर (सूचित कर) प्रिय जन को बुलाती हैं (आकर्षित करती हैं) ॥३१६॥

मधुरा रागवर्धिन्यः कोमलाः कोकिलागिरः ।
आकर्ण्यन्ते मदकलाः श्लिष्यन्ते चासितेक्षणाः ॥३१७॥

रागमादर्शयन्नेष वारुणीयोगवर्धितम् ।
तिरोभवति घर्मांशुरङ्गजस्तु विजृम्भते ॥३१८॥

निस्त्रिंशत्वमसावेव धनुष्येवास्य वक्रता ।
शरेष्वेव नरेन्द्रस्य मार्गणत्वं च वर्तते ॥३१९॥

पद्मानामेव दण्डेषु कण्टकस्त्वयि रक्षति ।
अथवा दृश्यते रागिमिथुनालिङ्गनेष्वपि ॥३२०॥

महीभृद्भूरिकटकस्तेजस्वी नियतोदयः ।
दक्षः प्रजापतिश्चासीत् स्वामी शक्तिधरश्च सः ॥३२१॥

[अभिन्न-क्रिया श्लेष है ।

मधुर तथा कोमल कोयल की बोली और नीले नेत्र वाली प्रेम को बढ़ाती हुई और मदोन्मत्त (वसंतारंभ या मद्पान से) सुनी जाती है (या) आलिंगन की जाती है ॥ ३१७ ॥

[अविरुद्ध क्रिया श्लेष है ।

राग (अनुराग, लालरंग) प्रदर्शित करते हुए जो वारुणी (मदिरा, पश्चिम दिशा) के योग से वृद्धि को प्राप्त है वह सूर्य अस्त हो रहे हैं और कामदेव बढ़ रहे हैं ॥ ३१८ ॥

[विरुद्धक्रिया श्लेष का उदाहरण है ।

इस राजा की निस्त्रिंशता (निर्दयता, तीस अंगुल का) खड्ग में, वक्रता (दुष्टता टेढ़ापन) धनुष में और मार्गणत्व (याचकता, अन्वेषणत्व) तीर में है ॥ ३१९ ॥

[नियामक श्लेष है ।

आपके रक्षक होने पर कंटक (क्षुद्र शत्रु, कांटा, रोमांच होने पर खड़े बाल) केवल कमल नाल पर अथवा प्रेमियों के आलिंगन के समय रोमांच होने पर दिखलाते हैं ॥ ३२० ॥

[नियमाक्षेपक रूपोक्ति श्लेष है ।

यह महीभृत (राजा, पर्वत) भारी कटक (सेना, पर्वत का मध्य भाग) से युक्त, तेजस्वी (कीर्तिमान, सूर्य का) नियतोदय (बराबर उन्नति करनेवाला, ठीक समय उदित कराने वाला) दक्ष (निपुण, नाम) प्रजापति (प्रजाका स्वामी, सृष्टिकर्ता) स्वामी (प्रभु, कार्तिकेय) और शक्तिधर (शक्ति संपन्न, शक्ति नामक शस्त्र लिए) है ॥ ३२१ ॥

[अविरोधी श्लेष है ।

अच्युतोप्यवृषोच्छेदी राजाप्यविदितक्षयः ।
देवोप्यविबुधो जज्ञे शंकरोप्यभुजंगवान् ॥३२२॥

[विशेषोक्तिः]

गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम् ।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥३२३॥

न कठोरं न वा तीक्ष्णमायुधं पुष्पधन्वनः ।
तथापि जितमेवासीदमुना भुवनत्रयम् ॥३२४॥

न देवकन्यका नापि गन्धर्वकुलसंभवा ।
तथाप्येषा तपोभङ्गं विधातुं वेधसोप्यलम् ॥३२५॥

न बद्धा भ्रूकुटिर्नापि स्फुरितो दशनच्छदः ।
न च रक्ताभवद्दृष्टिर्जितं च द्विषतां कुलम् ॥३२६॥

न रथा न च मातङ्गा न हया न च पत्तयः ।
स्त्रीणामपाङ्गदृष्ट्यैव जीयते जगतां त्रयम् ॥३२७॥

अच्युत (कृष्णजी, दृढ़) होते हुए भी वृष (एक राक्षस जिसे श्रीकृष्ण ने मारा था, धर्म) का मारनेवाला नहीं था। राजा (नृप, चंद्र) होते भी कभी क्षय (रोगयक्ष्मा, नाश) को नहीं प्राप्त हुआ, देव (स्वामी, देवता) होते भी कभी विबुध (देवता, पंडितों बिना) नहीं हुआ और शंकर (कल्याणकर महादेव) होते भी भुजंगवान (दुष्टों या सर्पों से युक्त) नहीं हुआ ॥ ३२२ ॥

[विरोधी श्लेष है।

[विशेषोक्ति अलंकार]

जब गुण, जाति, क्रिया आदि में वैकल्य अर्थात् कमी दिखलाकर विशेषता स्पष्ट की जाती है तब उसे विशेषोक्ति कहते हैं ॥ ३२३ ॥

पुष्पधन्वा काम के शस्त्र न कठोर हैं और न तीक्ष्ण हैं तिसपर भी उससे तीन लोक जीत लिया गया ॥ ३२४ ॥

[गुण-वैकल्य दिखलाया गया है।

यह न देवकन्या है न गन्धर्वकुल में उत्पन्न है तिसपर भी ब्रह्मा का भी तपोभंग करने में योग्य है ॥ ३२५ ॥

[जाति-वैकल्य।

न भवें टेढ़ी हुईं, न होंठ ही काँपे और न आँखें ही लाल हुईं पर शत्रु-कुल जीत लिया गया ॥ ३२६ ॥

[क्रिया-वैकल्य।

न रथ, न हाथी, न घोड़े और न पैदल सेना ही थी। केवल स्त्रियों की तिरछी दृष्टि ही से तीनों लोक जीता जा रहा है ॥ ३२७ ॥

[द्रव्य-वैकल्य।

एकचक्रो रथा यन्ता विकलो विषमा हयाः ।
आक्रामत्येव तेजस्वी तथाप्यर्को नभस्तलम् ॥३२८॥

सैषा हेतुविशेषोक्तिस्तेजस्वीति विशेषणात् ।
अयमेव क्रमोन्येषां भेदानामपि कल्पते ॥३२९॥

[तुल्ययोगिता]

विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत् समीकृत्य कस्यचित् ।
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता ॥३३०॥

यमः कुबेरो वरुणः सहस्राक्षो भवानपि ।
बिभ्रत्यनन्यविषयां लोकपाल इति श्रुतिम् ॥३३१॥

संगतानि मृगाक्षीणां तडिद्विलसितानि च ।
क्षणद्वयं न तिष्ठन्ति घनारब्धान्यपि स्वयम् ॥३३२॥

[विरोधः]

विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम् ।
विशेषदर्शनायैव स विरोधः स्मृतो यथा ॥३३३॥

कूजितं राजहंसानां वर्धते मदमञ्जुलम् ।
क्षीयते च मयूराणां रुतमुत्क्रान्तसौष्ठवम् ॥३३४॥

रथ एक चक्र वाला है, सारथी टेढ़ा मेढ़ा (उरुहीन अरुण है और घोड़े विषम (अर्थात् सात) हैं तिस पर भी तेजस्वी सूर्य आकाश को पार कर डालता है ॥ ३२८ ॥

उदाहरण हेतु-विशेषोक्ति का है क्योंकि तेजस्वी विशेषण दिया हुआ है। इसी क्रम से इसके अन्य भेद भी जानने चाहिएँ ॥ ३२९ ॥

[तुल्ययोगिता अलंकार]

जहाँ किसी की प्रशंसा या निंदा करना हो और किसी अन्य से जिसमें वह गुण उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत है उसकी बराबरी करते हुए वर्णन किया जाय तो वहाँ तुल्ययोगिता अलंकार कहलाता है ॥ ३३० ॥

यम, कुबेर, वरुण, इन्द्र और आप भी लोकपालत्व ऐसी अनन्यगामिनी (अर्थात् जो किसी दूसरे में नहीं है) ख्याति के पात्र हैं ॥ ३३१ ॥

मृगाक्षियों के समागम तथा विद्युत की चमक का आरंभ यद्यपि घना (विद्युत पक्ष में घन बादल से) होता है पर दो ही क्षण ठहरता है ॥ ३३२ ॥

[विरोधालंकार]

विरोधी वस्तुओं का जहाँ संसर्ग इसलिए किया जाता है कि उनमें की विशेषता स्पष्ट हो जाय तब उसे विरोध कहते हैं। जैसे- ॥ ३३३ ॥

(शरत् काल में) मदमत्त होने से मनोरम राजहंसों का कूजन बढ़ता है। मोरों की ध्वनि मंजुलता के कम होने से वैसी ही घटती है ॥ ३३४ ॥

प्रावृषेण्यैर्जलधरैरम्बरं दुर्दिनायते ।
रागेण पुनराक्रान्तं जायते जगतां मनः ॥३३५॥

तनुमध्यं पृथुश्रोणि रक्तौष्ठमसितेक्षणम् ।
नतनाभि वपुः स्त्रीणां कं न हन्त्युन्नतस्तनम् ॥३३६॥

मृणालबाहु रम्भोरु पद्मोत्पलमुखेक्षणम् ।
अपि ते रूपमस्माकं तन्वि तापाय कल्पते ॥३३७॥

उद्यानमारुतोद्धूताश्चूतचम्पकरेणवः ।
उदश्रयन्ति पान्थानामस्पृशन्तोपि लोचने ॥३३८॥

कृष्णार्जुनानुरक्तापि दृष्टिः कर्णावलम्बिनी ।
याति विश्वसनीयत्वं कस्य ते कलभाषिणी ॥३३९॥

इत्यनेकप्रकारोयमलंकारः प्रतीयते ।

[अप्रस्तुतप्रशंसा]

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः ॥३४०॥

सुखं जीवन्ति हरिणा वनेष्वपरसेविनः ।
अर्थैरयत्नसुलभैर्जलदर्भाङ्कुरादिभिः ॥३४१॥

सेयमप्रस्तुतैवात्र मृगवृत्तिः प्रशस्यते ।
राजानुवर्तनक्लेशनिर्विण्णेन मनस्विना ॥३४२॥

वर्षा ऋतु के बादलों से आकाश काला हो रहा है तिस पर भी वह संसार के मन को राग से (अनुराग, लाल) व्याप्त कर देता है ॥ ३३५ ॥

स्त्रियों का मध्य कृश, नितंब विशाल, ओष्ठ लाल, आँखें काली, नाभि गहरी और स्तन ऊँचे होते हैं, तिस पर भी किसको उनका ऐसा शरीर कष्ट नहीं देता ॥ ३३६ ॥

हे कृशाङ्गि, कमलदंड के समान बाहु, केले के खंभे से जंघे, श्वेत कमल सा मुख और नील कमल सी आँखों से युक्त होने पर भी तेरा रूप क्यों हम लोगों को तापदायक होता है ॥ ३३७ ॥

उद्यान की वायु से प्रेरित होकर आम्र और चंपा के पराग उड़कर पथिकों के नेत्रों को न छूते हुए भी अश्रुपूर्ण कर देते हैं ॥ ३३८ ॥

हे मिष्टभाषिणी, तुम्हारे नेत्र, जो कृष्ण और अर्जुन में अनुरक्त होते भी (काले, श्वेत और लाल) कर्ण के आश्रित (अर्थात् कान पर्यन्त फैले हुए) हैं, कैसे विश्वास योग्य होंगे ॥ ३३९ ॥

इस प्रकार इस अलंकार के अनेक भेद हैं।

[अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार]

जो प्रस्तुत विषय नहीं है उसकी स्तुति करना अप्रस्तुत प्रशंसा है ॥ ३४० ॥

हरिण वन में सुखपूर्वक दूसरे की सेवा न करते हुए निवास करते हैं सहज़ ही विना परिश्रम के प्राप्त तृण और जल पर जीते हैं ॥ ३४१ ॥

राजा की सेवा के क्लेश से दुःखी होकर एक मनस्वी पुरुष से अप्रस्तुत विषय मृगवृत्ति की प्रशंसा की जाती है ॥ ३४२ ॥

[व्याजस्तुतिः]

यदि निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ स्मृता ।
दोषाभासा गुणा एव लभन्ते यत्र संनिधिम् ॥३४३॥

तापसेनापि रामेण जितेयं भूतधारिणी ।
त्वया राज्ञापि सैवेयं जिता मा भून्मदस्तव ॥३४४॥

पुंसः पुराणादाच्छिद्य श्रीस्त्वया परिभुज्यते ।
राजन्निक्ष्वाकुवंशस्य किमिदं तव युज्यते ॥३४५॥

भुजङ्गभोगसंसक्ता कलत्रं तव मेदिनी ।
अहंकारः परां कोटिमारोहति कुतस्तव ॥३४६॥

इति श्लेषानुविद्धानामन्येषां चोपलक्ष्यताम् ।
व्याजस्तुतिप्रकाराणामपर्यन्तः प्रविस्तरः ॥३४७॥

[निदर्शनम्]

अर्थान्तरप्रवृत्तेन किंचित् तत्सदृशं फलम् ।
सदसद्वा निदर्श्येत यदि तत् स्यान्निदर्शनम् ॥३४८॥

उदयन्नेव सविता पद्मेष्वर्पयति श्रियम् ।
विभावयितुमृद्धीनां फलं सुहृदनुग्रहम् ॥३४९॥

याति चन्द्रांशुभिः स्पृष्टा ध्वान्तराजी पराभवम् ।
सद्यो राजविरुद्धानां सूचयन्ती दुरन्तताम् ॥३५०॥

[व्याजस्तुति अलंकार]

यदि निंदा करने के समान प्रशंसा की जाती है तो उसे व्याजस्तुति कहते हैं। दोष का आभास मात्र दिखलाते हुए गुण ही स्पष्ट होते हैं ॥ ३४३ ॥

तपस्वी परशुराम से यह पृथ्वी जीती जा चुकी है। वही आप राजा से भी जीती गई है, इससे आप अहंकार न करें ॥ ३४४ ॥

पुरातन पुरुष से उसकी श्री छीन कर आप भोग कर रहे हैं। राजन्! आपके इक्ष्वाकुवंश केलिए क्या यह योग्य है ॥ ३४५ ॥

आपकी स्त्री पृथ्वी जारों में अनुरक्त (जिसमें बहुत से सर्प हैं) है तब आपका अहंकार क्यों सर्वोच्च कोटि तक पहुँचता है ॥ ३४६ ॥

इस प्रकार श्लेष या औरों से युक्त व्याजस्तुति के भेद समझने चाहिएँ। इसके भेद अनंत हैं ॥ ३४७ ॥

[निदर्शनालंकार]

किसी अन्य फल प्राप्ति में प्रवृत्त रहते हुए कुछ वैसा ही अच्छा या बुरा अन्य फल प्राप्त होना दिखलाया जाय तो उसीको निदर्शना अलंकार कहते हैं ॥ ३४८ ॥

उदय होते ही सूर्य कमलों को श्री देता है अर्थात् मित्र पर अनुग्रह करना ही संपत्ति का फल है यह दिखलाता है ॥३४९॥

[इसमें सत् फल दिखलाया गया है।

स्पर्श मात्र से अन्धकार का समूह चन्द्र किरणों से पराजित हो जाता है। राज (राजा या चन्द्र) विरोधियों के बुरे अन्त की सूचना देता है ॥ ३५० ॥

[इसमें बुरा अन्त असत् फल दिखलाया है।

[सहोक्तिः परिवृत्तिश्च]

सहोक्तिः सहभावस्य कथनं गुणकर्मणाम् ।
अर्थानां यो विनिमयः परिवृत्तिस्तु सा यथा ॥३५१॥

सह दीर्घा मम श्वासैरिमाः संप्रति रात्रयः ।
पाण्डुराश्च ममैवाङ्गैः सह ताश्चन्द्रभूषणाः ॥३५२॥

वर्धते सह पान्थानां मूर्छया चूतमञ्जरी ।
पतन्ति च समं तेषामसुभिर्मलयानिलाः ॥३५३॥

कोकिलालापसुभगाः सुगन्धिवनवायवः ।
यान्ति सार्धं जनानन्दैर्वृद्धिं सुरभिवासराः ॥३५४॥

इत्युदाहृतयो दत्ताः सहोक्तेरत्र काश्चन ।
क्रियते परिवृत्तेश्च किंचिद्रूपनिरूपणम् ॥३५५॥

शस्त्रप्रहारं ददता भुजेन तव भूभुजाम् ।
चिरार्जितं हृतं तेषां यशः कुमुदपाण्डुरम् ॥३५६॥

[सहोक्ति और परिवृत्ति अलंकार]

गुण और कर्म का एक साथ होना वर्णन करना सहोक्ति कहलाता है। वस्तुओं का आदान प्रदान परिवृत्ति है। जैसे ॥ ३५१ ॥

मेरे श्वास के साथ साथ ये रात्रि दीर्घ और मेरे अंगों के साथ वे चंद्र आभूषण भी (अर्थात् चाँदनी छिटकी रहने पर) पांडु वर्ण हो गए हैं ॥ ३५२ ॥

[विरहिणी की उक्ति है।

और अंग के गुणों के संबंध से दीर्घता और पांडुरता दो भिन्न गुण एक ही पद में रात्रि पर घटाए गए हैं, इससे गुण सहोक्ति हुई।

प्रवासियों की मूर्छा के साथ साथ आम्र-मंजरी बढ़ती है और उनके प्राणों के साथ मलयवायु कम होती है ॥ ३५३ ॥

[यहाँ मूर्छा के आम्र-मंजरी के साथ और प्राण के मलय-वायु के साथ वर्द्धन और पतन कार्यों के सहभाव से चमत्कारोत्पत्ति हुई है, इसलिये क्रिया सहोक्ति है। विरहियों के लिए वसंतागमन सूचित है।

वसंत के दिन, जो कोयल की बोली से सुन्दर और मलय वायु से सुगंधित हैं, मनुष्यों के आनंद के साथ वृद्धि पाते हैं ३५४

[इस में वृद्धि रूपी गुण और व्याप्ति रूपी कर्म का साथ है। यहाँ तक सहोक्ति के कुछ उदाहरण लिए गए। अब परि-वृत्ति का कुछ रूपनिरूपण किया जायगा ॥ ३५५ ॥

आप की भुजा ने राजाओं पर शस्त्रप्रहार कर उन लोगों के बहुत दिनों में एकत्र किए हुए कमल से श्वेत यश को हरण कर लिया ॥ ३५६ ॥

[आशीः]

अशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनं यथा ।
पातु वः परमं ज्योतिरवाङ्मनसगोचरम् ॥३५७॥
अनन्वयससंदेहावुपमास्वेव दर्शितौ ।
उपमारूपकं चापि रूपकेष्वेव दर्शितम् ॥३५८॥
उत्प्रेक्षाभेद एवासावुत्प्रेक्षावयवोपि च ।

[संसृष्टिः]

नानालंकारसंसृष्टिः संसृष्टिस्तु निगद्यते ॥३५९॥
अङ्गाङ्गिभावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता ।
इत्यलंकारसंसृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गतिः ॥३६०॥
आक्षिपन्त्यरविन्दानि तव मुग्धे मुखश्रियम् ।
कोशदण्डसमग्राणां किमेषामस्ति दुष्करम् ॥३६१॥
(लिम्पतीव तमोङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥३६२॥)
श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥३६३॥

[आशिष अलंकार]

प्रिय वस्तु के शुभ के लिए प्रार्थना करना आशिष अलंकार है। जैसे, वाणी और मन के लिए अगोचर परम ज्योति तुम्हारी रक्षा करे ॥ ३५७ ॥

[वैचित्र्य के अभाव से बहुत लोग इसे अलंकार नहीं मानते।

[अनन्वय अलंकार]

अनन्वय और संदेह उपमा के अंतर्गत दिखाए जा चुके हैं। रूपक के वर्णन में उपमारूपक भी लिखा जा चुका है ॥३५८॥

[संसृष्टि]

उत्प्रेक्षावयव अलंकार उत्प्रेक्षा का भेद मात्र है। कई अलंकारों का मेल ही संसृष्टि कहलाता है ॥ ३५९ ॥

अंगांगिभाव प्रधान और सम-प्रधान होने से संसृष्टि अलंकार के दो भेद जानने चाहिए ॥ ३६० ॥

[कुछ लोग पहिले को संकर और दूसरे को संसृष्टि कहते हैं।

हे मुग्धे, तुम्हारे मुख की शोभा का कमल तिरस्कार करते हैं। कोश (धनराशि, पराग का कोष) और दंड (राजनीति का चौथा उपाय, नाल) सभी के रहते उन के लिए क्या दुष्कर है ॥ ३६१ ॥

[इस में उपमा प्रधान और श्लेषयुक्त हेतु या अर्थांतरन्यास गौण है, इस से अंगांगिभाव है।

अंधकार मानों अंगों को लीपता है, आकाश मानों काजल बरसता है, दुष्ट पुरुषों की सेवा के समान दृष्टि निष्फल हो गई ॥ ३६२ ॥

[प्रथम दो उत्प्रेक्षा और तीसरी उपमा सम-प्रधान है।

श्लेष प्रायः सभी वक्रोक्तियों की शोभा बढ़ाता है। काव्य के स्वाभाविक और अलंकृत वर्णन होने से उस के दो भेद हुए ॥ ३६३ ॥

[भाविकम्]

भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् ।
भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धि यः स्थितः ॥३६४॥

परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुपर्वणाम् ।
विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना ॥३६५॥

व्यक्तिरुक्तिक्रमबलाद्गम्भीरस्यापि वस्तुनः ।
भावायत्तमिदं सर्वमिति तद्भाविकं विदुः ॥३६६॥

यच्च संध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे ।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः ॥३६७॥

पन्थाः स एष विवृतः परिमाणवृत्त्या
संक्षिप्य विस्तरमनन्तमलंक्रियाणाम् ।
वाचामतीत्य विषयं परिवर्तमाना—
नभ्यास एव विवरीतुमलं विशेषान् ॥३६८॥

इत्याचार्यदण्डिनः कृतौ काव्यादर्शेऽर्थालंकारविभागो नाम
द्वितीय परिच्छेदः ।

[भाविक अलंकार]

जो गुण पूरे प्रबंध का विषय है उसी को भाविक अलंकार कहते हैं। कवि का अभिप्राय ही भाव है, जो काव्यों के अंत तक रहता है ॥ ३६४ ॥

वस्तु के सभी प्रकरणों का पारस्परिक संबंध, व्यर्थ विशेषणों का अप्रयोग, स्थान का वर्णन ॥ ३६५ ॥

गंभीर विषय का भी क्रमपूर्वक वर्णन करने के बल से स्पष्टीकरण—यह सब भाव पर निर्भर है और इसे ही भाविक मानते हैं ॥ ३६६ ॥

अन्य ग्रंथों में जो संधि और उसके अंग, वृत्ति और उसके अंग, लक्षण आदि का विशेष वर्णन है उन सब को हमलोग अलंकार ही के अंतर्गत मानते हैं ॥ ३६७ ॥

अलंकारों के अनंत विस्तार को संक्षिप्त करके परिमित रूप में यह (काव्य) मार्ग बतलाया गया है। विशेष प्रकार के (प्रबंध) जो वर्णन विषय से परे हैं और बहुत हैं उनका विवरण (स्पष्टीकरण) अभ्यास ही से हो सकता है ॥ ३६८ ॥

दंडी-कृत काव्यादर्श का अलंकार विभाग

समाप्त हुआ।

काव्यादर्शे तृतीयः परिच्छेदः

अव्यपेतव्यपेतात्मा याव्यृत्तिर्वर्णसंहतेः ।
यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ॥ १ ॥

एकद्वित्रिचतुष्पादयमकानां विकल्पनाः ।
आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्याद्यन्तसर्वतः ॥ २ ॥

अत्यन्तबहवस्तेषां भेदाः संभेदयोनयः ।
सुकरा दुष्कराश्चैव दर्श्यन्ते तत्र केचन ॥ ३ ॥

मानेन मानेन सखि प्रणयोभूत् प्रिये जने ।
खण्डिता कण्ठमाश्लिष्य तमेव कुरु सत्रपम् ॥ ४ ॥

मेघनादेन हंसानां मदनो मदनोदिना ।
नुन्नमानं मनः स्त्रीणां सह रत्या विगाहते ॥ ५ ॥

राजन्वत्यः प्रजा जाता भवन्तं प्राप्य संप्रति ।
चतुरं चतुरम्भोधिरशनोर्वीकरग्रहे ॥ ६ ॥

३ तृतीय परिच्छेद

वर्णों के समूह की आवृत्ति, अव्यवहित (शृंखला बद्ध अर्थात् जो पृथक् नहीं हुआ है) या व्यवहित ही को यमक कहते हैं और यह पदों के आरम्भ, मध्य और अंत में होता है ॥ १ ॥

आरम्भ, बीच, अंत, मध्य और अंत, आरम्भ और मध्य, आरम्भ और अन्त तथा सर्वत्र एक, दोनों, तीनों और चारों पदों में होने से यमक के अनेक भेद होते हैं ॥ २ ॥

इस प्रकार के सम्मिश्रण से इनके बहुत अधिक भेद हुए, जो सुगम भी और कठिन भी होते हैं। थाड़े से यहाँ दिखलाए जाँयगे ॥ ३ ॥

हे सखी, इस प्रकार का मान करके प्रिय जन से प्रेम न दिखलाना चाहिये। खंडिता नायिका होने पर भी तुम गले लगाकर उसे लज्जित करो ॥ ४ ॥

[मा + अनेन = नहीं + इस प्रकार। जिसका पति रात्रि और कहीं बिता कर रति के चिह्न शरीर पर धारण किए हुए घर आवे, उसे खंडिता नायिका कहते हैं। प्रथम पद में 'मानेन मानेन' यमक है ॥

हंसों के मद को नाश करने वाले मेघ-गर्जन से जिन स्त्रियों का मान नष्ट हो गया है, उनके मन को कामदेव रति (काम-देव की स्त्री, अनुराग) से व्याकुल करता है ॥ ५ ॥

[द्वितीय पाद में 'मदनो मदनो' यमक है।

चारों समुद्र जिसके कटिभूषण हैं, ऐसी पृथ्वी का कर (टैक्स) ग्रहण करने में निपुण आप से अच्छे पति को पाकर प्रजा राजा-युक्त हुई ॥ ६ ॥

['चतुरं चतुरंभोधि' यमक तृतीय पाद में है। 'राजन्वती' का नकार विशेषता दिखलाने के लिये ही रखा गया है।

अरण्यं कैश्चिदाक्रान्तमन्यैः सद्म दिवौकसाम् ।
पदातिरथनागाश्वरहितैरहितैस्तव ॥ ७ ॥

मधुरं मधुरम्भोजवदने वद नेत्रयोः ।
विभ्रमं भ्रमरभ्रान्त्या विडम्बयति किं नु ते ॥ ८ ॥

वारणो वा रणोद्दामो हयो वा स्मर दुर्धरः ।
न यतो नयतोन्तं नस्तदहो विक्रमस्तव ॥ ९ ॥

राजितैराजितैक्ष्ण्येन जीयते त्वादृशैर्नृपैः ।
नीयते च पुनस्तृप्तिं वसुधा वसुधारया ॥१०॥

करोति सहकारस्य कलिकोत्कलिकोत्तरम् ।
मन्मनो मन्मनोप्येष मत्तकोकिलनिस्वनः ॥११॥

कथं त्वदुपलम्भाशाविहताविह तादृशी ।
अवस्था नालमारोढुमङ्गनामङ्गनाशिनी ॥१२॥

पैदल, रथ, हाथी और घोड़ों से रहित तुम्हारे कुछ शत्रु अरण्य में और कुछ देवलोक को चले गए ॥ ७ ॥

['रहितै रहितै' चतुर्थ पद में यमक है ।

बतलाओ कि तुम्हारे कमल रूपी मुख में दोनों नेत्रों के मधुर नृत्य को वसंत भ्रमर के भ्रमण करने के रूप में विडम्बना तो नहीं करता ॥ ८ ॥

['मधुरं मधुरं' प्रथम पद में और 'वदने वदने' द्वितीय पद में यमक अव्यवहित रूप में आया है और दोनों पादों के मिश्रण से मिश्र संज्ञा भी हुई ।

रणोन्मत्त हाथी या दुर्द्धर्ष घोड़ा न होते हुए भी, हे काम-देव, तुम्हारा विक्रम, जो हम लोगों को अंत की ओर ले जा रहा है, अद्भुत है ॥ ९ ॥

['वारणो वारणो', 'नयतो नयतो' पहिले और तीसरे पादों में यमक है ।

युद्धेच्छा से शोभित आपके समान राजाओं द्वारा पृथ्वी पहिले जोती जाती है और फिर धन की वर्षा से तृप्त की जाती है ॥ १० ॥

['राजितै राजितै', 'वसुधा वसुधां' पहिले और चौथे पादों में यमक है ।

आम की कली मेरे मन को उत्कंठित करती है, जैसे मत्त कोयल की धीमी बोली भी करती है ॥ ११ ॥

['कलिकोत्कलिको' 'मन्मनो मन्मनो' दूसरे और तीसरे पादों में यमक है ।

जब तुम्हारे प्राप्ति की आशा का नाश हो गया तब शरीर को नष्ट करने वाली वैसी अवस्था इस स्त्री को क्या आंक्रात करने में शक्य नहीं है ॥ १२ ॥

निगृह्य नेत्रे कर्षन्ति बालपल्लवशोभिना ।
तरुणा तरुणान् कृष्टानलिनो नलिनोन्मुखाः ॥१३॥

विशदा विशदामत्तसारसे सारसे जले ।
कुरुते कुरुतेनेयं हंसी मामन्तकामिषम् ॥१४॥

विषमं विषमन्वेति मदनं मदनन्दनः ।
सहेन्दुकलयापोढमलया मलयानिलः ॥१५॥

मानिनी मा निनीषुस्ते निषङ्गत्वमनङ्ग मे ।
हारिणी हारिणी शर्म तनुतां तनुतां यतः ॥१६॥

जयता त्वन्मुखेनास्मानकथं न कथं जितम् ।
कमलं कमलंकुर्वदलिमद्दलि मत्प्रिये ॥१७॥

['विहता विहता', 'मञ्जना मञ्जना' दूसरे और चौथे पादों में यमक है ।

कमल के इच्छुक भ्रमरगण नवपल्लव से शोभित वृक्षों से आकृष्ट हुए युवाओं के नेत्रों को आकर्षित कर अपनी ओर खींचते हैं ॥ १३ ॥

['तरुणा तरुणा', 'नलिनो नलिनो' तीसरे और चौथे पादों में यमक है ।

जिस सरोवर के जल में उन्मत्त सारस प्रवेश कर रहे हैं, उस में शुभ्रवर्णा यह हंसी अपने कुत्सित शब्द से मुझे यम का भोजन बनाती है ॥ १४ ॥

['विशदा विशदा', 'सारसे सारसे' और 'कुरुते कुरुते' प्रथम, द्वितीय और तृतीय पादों में तीन यमक हैं ।

मुझे न आनन्द देनेवाली मलय समीर निर्मल चन्द्रकला के साथ असह्य विष रूप कामदेव का अनुगमन करती है ॥१५॥

['विषम विषम', 'मदन मदन' और मलया मलया' प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ पादों में तीन यमक हैं ।

हे कामदेव, मुझको तुम्हारी तूणीर बनाने की इच्छुक हारादि से विभूषित मनोहरा यह मानिनी स्त्री कृश हो रही है, वह मेरे सुख को बढ़ावे ॥ १६ ॥

[पहिले तीसरे और चौथे में 'मानिनी मानिनी', 'हारिणी हारिणी' और 'तनुतां तनुतां' यमक है ।

हे मेरी प्रिये, हम लोगों को विजय करते हुए तुम्हारे मुख से वह कमल जो जल की शोभा बढ़ा रहा है, जिसके पत्र भ्रमरों से शोभित हैं और जो मूक है क्यों नहीं विजय किया गया ॥१७॥

['नकथं नकथं', 'कमलं कमलं' और 'दलिमत् दलिमत्' यमक दूसरे तीसरे और चौथे पादों में हैं ।

रमणी रमणीया मे पाटलापाटलांशुका ।
वारुणीवारुणीभूतसौरभा सौरभास्पदम् ॥१८॥

इति पादादियमकमव्यपेतं विकल्पितम्
व्यपेतस्यापि वर्ण्यन्ते विकल्पास्तस्य केचन ॥१९॥

मधुरेणदृशां मानं मधुरेण सुगन्धिना ।
सहकारोद्गमेनैव शब्दशेषं करिष्यति ॥२०॥

करोतिताम्रो रामाणां तन्त्रीताडनविभ्रमम् ।
करोति सेर्ष्यं कान्ते च श्रवणोत्पलताडनम् ॥ २१ ॥

सकलापोल्लसनया कलापिन्यानु नृत्यते ।
मेघाली नर्तिता वातैः सकलापो विमुञ्चति ॥२२॥

स्वयमेव गलन्मानकलि कामिनि ते मनः ।
कलिकामिह नीपस्य दृष्ट्वा कां न स्पृशेद्दशाम् ॥२३॥

आरुह्याक्रीडशैलस्य चन्द्रकान्तस्थलीमिमाम् ।
नृत्यत्येष लसच्चारुचन्द्रकान्तः शिखावलः ॥२४॥

पांढर पुष्प के समान लाल-वस्त्रा सुगंधियुक्ता प्रेयसी लाल रंगवाली सूर्य की भा अर्थात् तेजयुक्त प्राची दिशा (मदिरा) के समान मेरी रति प्रिया हों ॥ १८ ॥

[चारो पादों में यमक है।

पादों में अव्याहत (पास पास) यमक का वर्णन किया गया। अब कुछ भेद व्याहत का भी दिया जाता है ॥ १९ ॥

बसंत मनोहर और सुगन्धित आम्र मुकुल के निकलने से मृगनयनियों के मान को शब्द मात्र बना देता है (अर्थात् केवल नाममात्र को रह जाता है) ॥ २० ॥

['मधुरेण मधुरेण' यमक प्रथम और द्वितीय पादों में मिलकर आया है। बीच में 'दशां मानं' शब्द आ गए हैं।

स्त्रियों का अत्यन्त लाल हाथ वीणा बजाने का खेल और ईर्ष्या से प्रेमी को कर्ण के कमल द्वारा ताड़न करता है ॥२१॥

[करोति करोति, यमक प्रथम और तीसरे पादों में मिलकर है।

वायु से प्रेरित मेघ-समूह सब जल बरसा रहे हैं और तब पुच्छ फैलाकर मयूरी नाचती है ॥ २२ ॥

['सकलापो सकलापो' यमक प्रथम और चतुर्थ पादों में मिलकर है।

हे कामिनी, आप ही आप जिसका मानरूपी कलह नष्ट हुआ है ऐसा तुम्हारा मन इस (वर्षा) में कदंब की कलियों को देखकर किस दशा को न पहुँचेगा ॥ २३ ॥

['कलिकां कलिकां, यमक द्वितीय और तृतीय पदों में है।

क्रीड़ा पर्वत के इस चन्द्रकान्त मणियुक्त स्थान पर बैठकर यह सुन्दर मेचकोंवाला रमणीय मयूर नाच रहा है ॥२४॥

['चन्द्रकान्त चन्द्रकान्त' यमक द्वितीय और चतुर्थ पदों में है।

उद्धृत्य राजकादुर्वी ध्रियतेद्य भुजेन ते ।
वराहेणोद्धृता यासौ वराहेरुपरि स्थिता ॥२५॥

करेण ते रणेष्वन्तकरेण द्विषतां हताः ।
करेणवः क्षरद्रक्ता भान्ति संध्याघना इव ॥२६॥

परागतरुराजीव वातैर्ध्वस्ता भटैश्चमूः ।
परागतमिव क्वापि परागततमम्बरम् ॥२७॥

पातु वो भगवान् विष्णुः सदा नवघनद्युतिः ।
स दानवकुलध्वंसी सदानवरदन्तिहा ॥२८॥

कमलेः समकेशं ते कमलेर्ष्याकरं मुखम् ।
कमलेख्यं करोषि त्वं कमलेवोन्मदिष्णुषु ॥२९॥

(हे राजन्, अन्य) राजसमूह से उद्धार की हुई यह पृथ्वी आज 'आप के भुजा से रक्षित है जो वराह भगवान द्वारा उद्धृत हुई और जो (वर+अहि) नाग-श्रेष्ठ के ऊपर स्थित है ॥ २५ ॥

['वराहे वराहे' तृतीय और चतुर्थ पदों में यमक है।

रण में आप के शत्रु-विनाशक हाथों से मारे गए तथा जिनसे रक्त वह रहा है, ऐसे हाथी साँध्य मेघों के समान शोभित हैं ॥ २६ ॥

['करेण करेण करेणु' यमक पद प्रथम द्वितीय और तृतीय पादों में आए हैं। करेणुः उभयलिंग है।

वायु द्वारा पर्वत पर की वृक्ष माला के समान आप के वीरों द्वारा शत्रु की सेना ध्वंस कर दी गई। बचे हुए शत्रुओं के भागने से आकाश धूल से भर उठने पर कहीं चला गया सा ज्ञात होता है (अदृश्य हो गया है) ॥ २७ ॥

['परागत परागत परागत' यमक पद प्रथम, तृतीय और चतुर्थ पादों में है।

नए बादल के समान श्याम, दानव कुल के नाशक तथा मदयुक्त श्रेष्ठ हाथी को मारने वाले विष्णु भगवान सर्वदा तुम लोगों की रक्षा करें ॥ २८ ॥

['सदानव, सदानव, सदानव' पद द्वितीय तृतीय और चतुर्थ पादों में यमक है।

तुम्हारे शिर के बाल भ्रमर से हैं और मुख कमल को ईर्ष्यालु बनाता है। तुम लक्ष्मी के समान किसको उन्मत्तों में न गिना दोगी (अर्थात् सबको उन्मत्त कर सकती है) ॥२९॥

[चारों पादों में 'कमले' यमक पद आया है।

मुदा रमणमन्वीतमुदारमणिभूषणाः ।
मदभ्रमदृदृशः कर्तुमदभ्रजघनाः क्षमाः ॥३०॥
उदितैरन्यपुष्टानामा रुतैर्मे हतं मनः ।
उदितैरपि ते दूति मारुतैरपि दक्षिणैः ॥३१॥
सुराजितह्रियो यूनां तनुमध्यासते स्त्रियः ।
तनुमध्याः क्षरत्स्वेदसुराजितमुखेन्दवः ॥३२॥
इति व्यपेतयमकप्रभेदोप्येष दर्शितः ।
अव्यपेतव्यपेतात्मा विकल्पोप्यस्ति तद्यथा ॥३३॥
सालं सालम्बकालिका सालं सालं न वीक्षितुम् ।
नालीनालीनवकुलानाली नालीकिनीरपि ॥३४॥

उत्कृष्ट रत्नालंकार से युक्त, मत्तता से आँखे नचांती हुई तथा विशाल जघनों वाली (स्त्रियाँ) अपने प्रेमियों को हर्षपूर्वक अपना अनुगामी बनाने में योग्य हैं ॥ ३० ॥

['मुदारम् मुदारम्' प्रथम और द्वितीय में तथा 'मदभ्र मदभ्र' तृतीय और चतुर्थ पादों में विजातीय यमक है ॥

कोयलों के ऊँचे उठते हुए शब्दों से, तुम्हारे कथन से भी और दक्षिण के मलय समीर से भी हे दूती, मेरा मन व्यथित है ॥ ३१ ॥

['उदितै उदितै' प्रथम और तृतीय पाद में तथा 'मारुतै मारुतै' द्वितीय और चतुर्थ पादों में यमक है ॥

जिनकी कटि क्षीण है, जिनका मुखचन्द्र स्वेद निकलने से शोभित है और जिनकी लज्जा मदिरा से जीत ली गई है, ऐसी स्त्रियाँ युवकों के शरीर पर लेटी हैं ॥ ३२ ॥

['सुराजित सुराजित' प्रथम और चतुर्थ में तथा 'तनुमध्या तनुमध्या' द्वितीय और तृतीय पादों में यमक है ।

यहाँ तक व्यपेत यमक के भेद भी दिखलाए गए । अव्यपेत और व्यपेत मिलकर भी भेद होते हैं । जैसे ॥ ३३ ॥

वह उस साल वृक्ष की ओर देखने में अशक्य है जिनकी कलियाँ नीचे को लटक कर हिल रही हैं । बकुल वृक्षों पर के भ्रमरों को तथा मिथ्यावादिनी सखी को भी (देखने में वह विरहिणी अशक्य है) ॥ ३४ ॥

['सालं सालं', 'सालं सालं' और 'नाली नाली', 'नाली नाली' चार अव्यपेत यमक पद हैं पर प्रथम दो के बीच 'वकलिका' और द्वितीय दो के बीच 'नवकुला' आ जाने से व्यपेतत्व भी आ गया ।

कालं कालमनालक्ष्यतारतारकमीक्षितुम् ।
तारतारम्यरसितं कालं कालमहाघनम् ॥३५॥

याम यामत्रयाधीनायामया मरणं निशा ।
यामयाम धिया स्वर्त्या या मया मथितैव सा ॥३६॥

इति पादादियमकविकल्पस्येदृशी गतिः ।
एवमेव विकल्प्यानि यमकानीतराण्यपि ॥३७॥

न प्रपञ्चभयाद्भेदाः कार्त्स्न्येनाख्यातुमीहिताः ।
दुष्कराभिमता ये तु वर्ण्यन्ते तेऽत्र केचन ॥३८॥

स्थिरायते यतेन्द्रियो न हीयते यतेर्भवान् ।
अमायतेयतेप्यभूत् सुखाय तेयते क्षयम् ॥३९॥

उज्ज्वल तारे जब दिखाई नहीं पड़ते, जब तीव्र मेघ गर्जन कर्णकटु हो जाता है और जब काले गंभीर मेघ छा जाते हैं वैसे कालरूप समय को कौन (विरह कातरा) देखने में समर्थ होगी ? ॥ ३५ ॥

[प्रथम और चतुर्थ पादों में 'कालं कालं' 'कालं कालं' और द्वितीय तथा तृतीय में 'तार तार' 'तार तार' अव्यपेत यमक पद हैं और इन पदों के बीच व्यपेतत्व भी है ॥

तीन प्रहर की दीर्घ रात्रि में हमें मृत्यु मिले क्योंकि जिसके पास मन से पहुँचे थे वह दीर्घता (रात्रि की) के कारण प्राण-पीड़ा से नष्ट सी हो रही है ॥ ३६ ॥

[चारो पादों में अव्यपेत व्यपेत यमक पद 'यामयाम' आया है ।

पादों के आदि के यमक के भेद इस प्रकार हुए। अन्य यमकों के भेद भी इसी प्रकार हैं ॥ ३७ ॥

प्रपंच भय से सभी भेदों का कथन इष्ट नहीं है। जो दुष्कर हैं उन्हीं का यहाँ कुछ वर्णन किया जाता है ॥ ३८ ॥

जिसका भविष्य स्थिर है वैसे हे पुरुष, आप जितेन्द्रिय हैं इसलिये संयम (यति के उपयुक्त) से च्युत नहीं हैं। आपका माया से इतना अधिक निर्लिप्त होना न क्षय होने वाले सुख का कारण हुआ ॥ ३६ ॥

[चारों पादों के बीच 'यते यते' अव्यपेत यमक पद आया है और प्रत्येक पदों के बीच अन्य शब्द आने से व्यपेतत्व भी है इससे व्यपेताव्यपेतात्मक मिश्र सर्वपाद गत मध्य यमक कहलाया ।

सभासु राजन्नसुराहतैर्मुखै-
र्महीसुराणां वसुराजितैः स्तुताः ।
न भासुरा यान्ति सुरान् न ते गुणाः
प्रजासु रागात्मसु राशितां गताः ॥४०॥

तव प्रिया सच्चरिताप्रमत्तया
विभूषणं धार्यमिहांशुमत्तया ।
रतोत्सवामोदविशेषमत्तया
फलं न मे किंचन कान्तिमत्तया ॥४१॥

भवादृशा नाथ न जानते नते
रसं विरुद्धे खलु सन्नतेनते ।
य एव दीनाः शिरसा नतेन ते
चरन्त्यलं दैन्यरसेन तेन ते ॥४२॥

लीलास्मितेन शुचिना मृदुनोदितेन
व्यालोकितेन लघुना गुरुणा गतेन ।
व्याजृम्भितेन जघनेन च दर्शितेन
सा हन्ति तेन गलितं मम जीवितेन ॥४३॥

श्रीमानमानमरवर्त्मसमानमान-
मात्मानमानतजगत्प्रथमानमानम् ।
भूमानमानमत यः स्थितिमानमान-
नामानमानमतमप्रतिमानमानम् ॥४४॥

हे राजन्, सभाओं में ब्राह्मणों के सुरा से नहीं भ्रष्ट हुए अर्थात् पवित्र तथा आप द्वारा दिए गए धन से शोभित (प्रसन्न) मुखों द्वारा कहे गए अनुरक्त प्रजा में एकत्रीभूत आप के देदीप्यमान गुण देवताओं को भी नहीं प्राप्त हैं, ऐसा नहीं ॥ ४० ॥

[इस में 'सुरा' प्रति पाद के मध्य में व्यपेततः आया है।

हे सच्चरित्र में अप्रमत्त, तुम्हारी वह प्रिया जो तुम्हारे साथ के भोग विलास के आनंद विशेष से मत्त है उसे ऐसे समय उज्ज्वल आभूषण धारण करना योग्य है यद्यपि स्वाभाविक सौंदर्य के कारण ही उसे उन सबका प्रयोजन नहीं है ॥ ४१ ॥

[चारों पादों के अन्त में 'मत्तया' व्यपेत यमक पद है।

हे स्वामिन्, आप लोगों के समान पुरुष नम्रता का रस नहीं जानते, क्योंकि नम्रता और प्रभुता विरोधी हैं। जो दीन हैं वे ही दैन्य का स्वाद लेने को शिर नवाकर तुम्हारी सेवा करते हैं ॥ ४२ ॥

[इसमें चारों पादों के अंत में 'नते नते' अव्यपेत यमक पद आए हैं और इन पदों में व्यपेतत्व है।

शुद्ध क्रीड़ा युक्त मुसकिराहट, कोमल वचन, थोड़े थोड़े देखने, गंभीर गति, जम्हाई और जघन-दर्शन से वह मुझे मारती है, जिससे मेरा प्राण निकल रहा है ॥ ४३ ॥

[प्रति पाद में 'तेन' की व्यवहित आवृत्ति है।

(हे उपासक गण) उस आत्मा को प्रणाम करो, जिसका परिमाण आकाश के समान है, जिसकी पूजा सब जगत करता है, जो विशाल है, जिसके अपरिमित नाम हैं और जिसका मान अद्वितीय है और जो शोभा युक्त, अपरिमेय तथा नित्य है ॥४४॥

सारयन्तमुरसा रमयन्ती
सारभूतमुरुसारधरा तम् ।
सारवानुकृतसारसकाञ्ची
सा रसायनमसारमवैति ॥४५॥

नयानयालोचनयानयानया-
नयानयान्धान् विनयानयायते ।
नयानयासीर्जिनयानथा नया
नयानयास्ताञ्जनयानयाश्रितान् ॥४६॥

रवेण भौमो ध्वजवर्तिवीरवे-
रवेजि संयत्यतुलास्त्रगौरवे ।
रवेरिवोग्रस्य पुरो हरे रवे-
रवेत तुल्यं रिपुमस्य भैरवे ॥४७॥

मया 'मयालम्ब्यकलामयामया-
मयामयातव्यविरामयामया ।
मयामयार्तिं निशयामयामया-
मयामयामयामूं करुणामयामया ॥४८॥

[सब पादों के मध्य और अन्त में 'मानमान' अव्यपेत यमक है। इन यमकों के बीच अन्य शब्दों के आने से व्यपेतता भी है।

वह रसायन (अमृत) को भी निस्सार जानती है जो आए हुए जीवन सर्वस्व को वक्षःस्थल में लगाकर आनंद करती है, सुवर्ण के भूषण धारण किए है और सारस के अनुकरण स्वरूप जिसकी मेखला शब्द करती है ॥ ४५ ॥

[प्रत्येक पाद के आदि और मध्य में व्यपेततः 'सार' पद की आवृत्ति हुई है।

हे अप्रतिहत शासन ! नीति अनीति की इस आलोचना से आप, जो अनीति रहित हैं, इन अपने मंगल साधन के ग्रंथों को शिक्षा दीजिए। कुपंथ जैनपथ के अवलंबी, अनीति के आश्रित जनों को, जिन्हें आप प्राप्त नहीं हैं, वैष्णव मत पर लाइए ॥ ४६ ॥

[प्रथम और तृतीय में आदि और अन्त में तथा द्वितीय और चतुर्थ में आदि और मध्य में 'नया नया' आवृत्ति है, व्यपेता व्यपेत यमक चारों पादों में है। चारों पादों में 'नया नया' यमक आदि और मध्य में है।

संग्राम में ध्वजा पर बैठे हुए वीर पक्षी की गर्जना से तथा अपार अस्त्रों के वाहुल्य से भीमासुर उद्वेगपूर्ण हो गया। सूर्य के समान उग्र भीति जनक हरि (सिंह) के आगे शत्रु को मेष के समान जानो ॥ ४७ ॥

[चारों पदों के आरम्भ और अन्त में 'र वे' पद की व्यपेत आवृत्ति है।

हे अकपट और करुणामय मित्र, तुम कामार्त से उसको मिलाओ जो कला के क्षय-वृद्धि पीड़ित चन्द्रमा के समान दुःखित है; क्योंकि रात्रि में, जिसके याम शेष नहीं होते और जो यामा हीन है, मैंने काम पीड़ा पाई है ॥ ४८ ॥

मता धुनानारमतामकामता-
मतापलब्धाग्रिमतानुलोमता ।
मतावयत्युत्तमताविलोमता-
मताम्यतस्ते समता न वामता ॥४९॥

कालकालगलकालकालमुखकालकाल-
कालकालपनकालकालघनकालकाल ।
कालकालसितकालका ललनिकालकाल-
कालकालगतु कालकाल कलिकालकाल ॥९०॥

संदष्टयमकस्थानमन्तादी पादयोर्द्वयोः ।
उक्तान्तर्गतमप्येतत् स्वातन्त्र्येणात्र कीर्त्यते ॥९१॥

उपोढरागाप्यबला मदेन सा
मदेनसा मन्युरसेन योजिता ।
न योजितात्मानमनङ्गतापिता-
ङ्गतापि तापाय ममास नेयते ॥९२॥

[प्रति पाद में व्यपेताव्यपेत, आदि और अन्त में 'मया मया' यमक पद है।

तुम्हारे चित्त में वह समता है जो कभी खेद युक्त नहीं होती, जो योगियों के मन की निस्पृहता को हिला देती है, जिसे बिना क्लेश ही के श्रेष्ठता और अनुकूलता प्राप्त है तथा गुणों की प्रतिकूलता नहीं मिली है और उसमें वामता नहीं है ॥ ४९ ॥

[प्रति पाद के आदि, मध्य और अन्त में व्यपेत यमक पद 'मता' आया है।

शिव के नील कंठ, यम तथा लंगूर के समान हे कृष्णवर्ण-वाले, सजल काले मेघ के समय बोलने वाले (मयूर) के समान हे आलपनशील, काल के काल तथा कलियुग के मृत्यु हे कृष्ण, कालेपन से शिरपर शोभित अलकावली युक्त मंजु-भाषिणी ललना आकर्षित हो ॥ ५० ॥

प्रति पाद में आदि, मध्य और अंत में 'व्यपेताव्यपेत काल काल' यमक पद आया है।

दो पादों के अंत और आदि में आए हुए यमक को संदष्ट कहते हैं। कहे हुए के अंतर्गत यह आ चुका है पर यहां स्वतंत्र रूप से पुनः वर्णित होता है ॥ ५१ ॥

मद से जिसका अनुराग उमड़ रहा है और आत्मा में कामपीड़ा के रहते हुए भी वह अबला मेरे अपराधों से क्रुद्ध होकर भी मुझसे युक्त होकर मुझको इतनी तापदायक नहीं हुई ॥ ५२ ॥

'मदेनसा मदेनसा', 'नयोजिता नयोजिता' और 'गतापिता गतापिता' संदष्ट यमक है।

अर्धाभ्यासः समुद्गः स्यादस्य भेदास्त्रयो मताः ।
पादाभ्यासोऽप्यनेकात्मा व्यज्यते स निदर्शनैः ॥९३॥

ना स्थेयःसत्त्वया वर्ज्यः परमायतमानया ।
नास्थेयः स त्वयावर्ज्यः परमायतमानया ॥९४॥

नरा जिता माननयासमेत्य
न राजिता माननया समेत्य ।
विनाशिता वैभवतापनेन
विनाशिता वै भवतापनेन ॥ ९९ ॥

कलापिनां चारुतयोपयान्ति
वृन्दानि लापोढघनागमानाम् ।
वृन्दानिलापोढघनागमानां
कलापिनां चारुतयोपयान्ति ॥ ९६ ॥

नमन्दयावर्जितमानसात्मया
न मन्दयावर्जितमानसात्मया ।
उरस्युपास्तीर्णपयोधरद्वयं
मया समालिङ्ग्यत जीवितेश्वरः ॥ ९७ ॥

आधे श्लोक की आवृत्ति को समुद्र यमक कहते हैं। इसके तीन भेद हैं। पाद की आवृति के अनेक भेद हैं। उदाहरण से व्यक्त हो जायगा ॥ ५३ ॥

तुम्हारा स्वभाव स्थिर नहीं है और मान अति दीर्घ है किन्तु तुम से वह (प्रिय) वर्ज्य नहीं है प्रत्युत् बड़े यत्न से आदर करने तथा प्रेम व्यवहार करने योग्य है क्योंकि वह स्थिर न रहेगा ॥ ५४ ॥

मान और नीति युक्त मनुष्य गण (शत्रु) आक्रमण कर परास्त हो, मान और नीति के अभाव को प्राप्त होकर शोभित नहीं हुए। (यह भागनेवालों की दशा हुई और युद्ध में मरे हुए अर्थात्) ऐश्वर्य नष्ट किये गए पक्षियों से खालिए गए ॥ ५५ ॥

[प्रथम दो और द्वितीय दा पादों की आवृत्ति है।

मोरों के समूह, जिनके शब्द से वर्षागम होने की सूचना मिलती है, सुंदरता पाते हैं। एकत्रीभूत आंधी से घनागम नष्ट हो गया है इससे हंस गण की मनोहर कूजन पास चली आई ॥ ५६ ॥

[प्रथम–चतुर्थ और द्वितीय–तृतीय में पादावृत्ति है।

मुझ मूर्खा से, जिसने यत्न के साथ अपने मान को नहीं छोड़ा और जिसका मन तथा आत्मा दोनों ही दया रहित हैं, पैरों पर गिरा हुआ प्राणनाथ इस प्रकार आलिंगन नहीं किया गया जिससे उसके वक्षस्थल पर मैं अपने स्तनद्वय को दबाती ॥ ५७ ॥

[इसमें केवल प्रथम दो पादों में आवृत्ति है, जो पदाभ्यास यमक कहलाता है।

सभा सुराणामबला विभूषिता
गुणैस्तवारोहि मृणालनिर्मलैः ।
स भासुराणामबला विभूषिता
विहारयन्निर्विश संपदः पुराम् ॥९८॥

कलं कमुक्तं तनुमध्यनामिका
स्तनद्वयी च त्वदृते न हन्त्यतः ।
न याति भूतं गणने भवन्मुखे
कलङ्कमुक्तं तनुमध्यनामिका ॥९९॥

यशश्च ते दिक्षु रजश्च सैनिका
वितन्वतेजोपम दंशिता युधा ।
वितन्वतेजोपमदं शितायुधा
द्विषां च कुर्वन्ति कुलं तरस्विनः ॥६०॥

बिभर्ति भूमेर्वलयं भुजेन ते
भुजंगमोमा स्मरतो मदाञ्चितम् ।
शृणूक्तमेकं स्वमवेत्य भूधरं
भुजं गमो मा स्म रतो मदं चितम् ॥६१॥

स्मरानलो मानविवर्धितो यः
स निर्वृत्तिं ते किमपाकरोति ।
समन्ततस्तामरसेक्षणे न
समं ततस्तामरसे क्षणेन ॥६२॥

हे राजन् ! कमल नाल के समान निर्मल आपके गुणों से बलासुर रहित तथा इन्द्र सहित देवताओं की सभा परिपूर्ण है (अर्थात् बल दैत्य के नाश करने से देवता गण आपके गुण गाया करते हैं) ऐसे आप आभूषण युक्त सुन्दरियों के साथ रमण करते हुए समृद्धिशाली नगरों का सुख भोग करें ॥५८॥

[प्रथम तथा तृतीय पदों में आवृत्ति है ।

मधुर वाणी तथा स्तनद्वय के भार से बल खाती हुई क्षीण कटि आपको छोड़कर किसे नहीं पीड़ित करती ? यही कारण है कि आपके समान (जितेन्द्रिय) पुरुषों को गणना में अनामिका (अंगूठे से चौथी अँगुली) गिनने को कोई शरीर धारी निर्दोष जीव नहीं मिलता ॥ ५९ ॥

[प्रथम तथा चतुर्थ में पदाभ्यास है ।

हे अज सदृश राजन् ! आप के कवचधारी, तीक्ष्ण अस्त्रों से युक्त तथा वेगशाली सैनिक गण ने युद्ध में आपका यश तथा धूल सब दिशाओं में खूब फैलाया है और शत्रुओं के झुण्ड को देहरहित, तेजहीन तथा निरहंकार करते हैं ॥ ६० ॥

[द्वितीय तथा तृतीय पादों में आवृत्ति है ।

हे राजन् ! सर्पराज शेष आप के भुजा के सहारे ही भूमि मंडल को धारण किये हुए हैं । यह जानते हुए भी मुझ से कही जाती हुई सर्व जन सम्मत यह एक बात सुनिए—अपनी ही भुजा को पृथ्वी धारण में क्षम जानकर मोह से अधिक घमंड मत करिये ॥ ६१ ॥

[द्वितीय तथा चतुर्थ में आवृत्ति है ।

हे रक्त कमल लोचने ! हे अरसिके ! मान के कारण बढ़ी हुई जो तुम्हारी कामाग्नि है वह उत्सव (वासना) से पूर्णरूप से व्याप्त है (यदि तुम अपने प्रिय को दूर कर दोगी तो) क्या तुम्हारे उस सुख में बाधा न पड़ेगी ? ॥ ६२ ॥

प्रभावतोनाम न वासवस्य

प्रभावतो नामन वा सवस्य ।

प्रभावतो नाम नवासवस्य

विच्छित्तिरासीत् त्वयि विष्टपस्य ॥६३॥

परंपराया बलवारणानां

परं पराया बलवारणानाम् ।

धूलीः स्थलीर्व्योम्नि विधाय रुन्धन्

परंपराया बलवा रणानाम् ॥६४॥

न श्रद्दधे वाचमलज्ज मिथ्या-

भवद्विधानामसमाहितानाम् ।

भवद्विधानामसमाहितानां

भवद्विधानामसमाहितानाम् ॥६५॥

सन्नाहितोमानमराजसेन

सन्नाहितोमानम राजसेन ।

सन्नाहितोमानमराजसेन

सन्नाहितो मानम राजसे न ॥६६॥

सकृद्द्विस्त्रिश्च योभ्यासः पादस्यैवं प्रदर्शितः ।

श्लोकद्वयं तु युक्तार्थं श्लोकाभ्यासः स्मृतो यथा ॥६७॥

हे प्रभावान, आप अपने तेज से इन्द्र को नम्र करने वाले (गर्व प्रहारी) प्रसिद्ध हैं। हे अनाम (नाम रहित अथवा रोग रहित) आप त्रिभुवन के स्वामी हैं इस कारण नए मदिरा का (भोगियों के लिये) या यज्ञ का (धर्मिष्ठों केलिये) विच्छेद नहीं होता अर्थात् दोनों सुरापानोत्सव तथा यज्ञ करने में सदा लगे रहते हैं। यह श्री कृष्ण जी की स्तुति है ॥६३॥

[प्रथम तीन पादों में पदाभ्यास यमक है।

हे परम मंगल रूप! हे शक्तिमान! आपके वलवान हाथियों के समूह ने दुर्बलों को युद्धों में विमुख करके रण-भूमि की धूली से आकाश को आच्छादित कर श्रेष्ठ शत्रु को जीत लिया ॥ ६४ ॥

हे निर्लज्ज! तुम्हारे ऐसे लोगों की बातें झूठी होती हैं इसलिए उनमें हमें विश्वास नहीं है, क्योंकि तुम लोग हमारे योग्य शत्रु नहीं हो और असंयत चित्त के हो। वे बातें दारुण सर्प की गति की तरह निकलते ही दो प्राण रूप हो जाती है और जो दो प्रकार की होती है अर्थात् जिसके ऊपर से कुछ और अन्तर से कुछ और अर्थ निकलता है ॥ ६५ ॥

हे शीलवान! उमा तथा द्विजराज को धारण करनेवाले (शिव) आपके उपास्य हैं, आप प्रभूत संपत्तिवाले हैं, रजोगुण के वशीभूत नहीं हैं, आपके शत्रु परास्त हो गए हैं और सत्पुरुषों के मित्र हैं और आपके द्वारा (शत्रुकी) राजसेना श्री हीन की जा चुकी है, इसलिए आप युद्ध का यह उद्योग करते हुए शोभा नहीं पाते ॥ ६६ ॥

एक, दो, तीन वार की पदावृत्ति के उदाहरण दिए जा चुके। दो समान श्लोक, जिनके अर्थ मिले हुए हैं, श्लोकाभ्यास कहलाते हैं। जैसे ॥ ६७ ॥

विनायकेन भवता वृत्तोपचितबाहुना ।
स्वमित्रोद्धारिणाभीता पृथ्वी यमतुलाश्रिता ॥६८॥

विनायकेन भवता वृत्तोपचितबाहुना ।
स्वमित्रोद्धारिणाभीता पृथ्वीयमतुलाश्रिता ॥६९॥

एकाकारचतुष्पादं तन्महायमकाह्वयम् ।
तत्रापि दृश्यतेभ्यासः सा परा यमकक्रिया ॥७०॥

समानयासमानया समानयासमानया ।
समानया समानया समानयासमानया ॥७१॥

धराधराकारधरा धराभुजां
भुजा महीं पातुमहीनविक्रमाः ।
क्रमात् सहन्ते सहसा हतारयो
रयोद्धुरा मानधुरावलम्बिनः ॥७२॥

आवृत्तिः प्रतिलोम्येन पादार्धश्लोकगोचरा ।
यमकं प्रतिलोमत्वात् प्रतिलोममिति स्मृतम् ॥७३॥

यामताश कृतायासा सा याता कृशता मया ।
रमणारकता तेस्तु स्तुतेताकरणामर ॥७४॥

नादिनोमदना धीः स्वा न मे काचन कामिता ।
तामिका न च कामेनं स्वाधीना दमनोदिना ॥७५॥

हे राजन, आप से श्रेष्ठ नायक के गोल तथा पीन भुजाओं से, जो अपने सशक्त शत्रुओं का नष्ट करने में अतुलित हैं, यह पृथ्वी भय रहित हो गई है ॥ ६८ ॥

तुम्हारे शत्रु, जो नायक रहित हैं तथा जिनके शस्त्र चिता पर स्थित हैं, जिन्हें ऐश्वर्य तथा मित्रों ने परित्यक्त कर दिया है और जो डर रहे हैं, यम तुला पर चढ़ गए अर्थात् मर गए ॥ ६९ ॥

जिसके चारों पाद समान हों और पादों में भी आवृत्ति हो तो उसे महायमक कहते हैं। यह श्रेष्ठ यमक क्रिया है॥७०॥

हे समानप्रयत्नशील मित्र, इस अद्वितीय मानवती नायिका से हमें मिलाओ, जो शोभा तथा विद्या से युक्त है और जिसे कष्ट कम नहीं है ॥ ७१ ॥

पृथ्वी धारण करनेवाले (नागराज) के समान (अति दीर्घ) अतिविक्रमशाली, बलात् शत्रु को नाश करनेवाले, अत्यन्त वेगवान तथा सम्मान के भार वहन करनेवाले (सम्मान रक्षक) पृथ्वीपतियों के बाहु क्रमशः पृथ्वी की रक्षा करने में समर्थ हैं ॥ ७२ ॥

पाद, श्लोकार्ध या श्लोक में विपरीत क्रम से आवृत्ति होने से उसे प्रतिलोमता के कारण प्रतिलोमयमक कहते हैं॥७३॥

हे तृष्णा के लोलुप, स्तुति के अयोग्य, दुष्कार्य में भमर और प्रिय आपकी जहाँ इच्छा हो वहाँ जाइए, मैं ता क्लेश-दायिनी कृशता को (पहिले ही से) प्राप्त हो चुकी हूँ ॥ ७४ ॥ [मानिनी की नायक के प्रति उक्ति, पादप्रतिलोम यमक ।

ब्रह्म के ध्यान में रत मुझे कामव्यथा और विषयानुराग नहीं है और न मुझे समयनाशिनी प्रीति की आत्मव्याकुल-कारिणी व्यथा ही है ॥ ७५ ॥

यानमानयमाराविकशोनानजनाशना ।
यामुदारशताधीनामायामायमनादिसा ॥७६॥

सा दिनामयमायामा नाधीता शरदामुया ।
नाशनाजनना शोकाविरामाय न मानया ॥७७॥

वर्णानामेकरूपत्वं यत् त्वेकान्तरमर्धयोः ।
गोमूत्रिकेति तत् प्राहुर्दुष्करं तद्विदो यथा ॥७८॥

मदनो मदिराक्षीणामपाङ्गास्त्रो जयेदयम् ।
मदनो यदि तत् क्षीणमनङ्गायाञ्जलिं ददे ॥७९॥

प्राहुरर्धभ्रमं नाम श्लोकार्धभ्रमणं यदि ।
तदिष्टं सर्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सर्वतः ॥८०॥

मानोभव तवानीकं
नोदयाय न मानिनी ।
भयादमेयामा मा वा
वयमेनोमया नत ॥८१॥

सामायामामाया मासा मारानायायानारामा ।
यानावारारावानाया मायारामा मारायामा ॥८२॥

[श्लोकार्ध प्रतिलोम यमक।

शरदकाल आने से विरहपीड़ा को दिन में रोग के छल से छिपाती हुई, व्याकुल हो एक जगह नहीं वैठती और मेरा मार्ग देखती हुई उस (वेश्या) को शोक से छुट्टी नहीं है और जिसके वशीभूत सैकड़ों धनी हैं उसके पास मुझे चलना है इसलिए सवारी लाओ, जो कामदेव रूपी वकरे की चावुक तथा धनाभाव के कारण मृतप्रायों को वहिष्कृत करनेवाली है उसने मुझे आने को कहा है ॥ ७६-७७ ॥

श्लोक के दो अर्धांशों के अक्षर एक के वाद दूसरे एक समान होते हैं तो वह गोमूत्रिका कहलाता है और उसे विद्वान गण दुष्कर कार्य वतलाते हैं। जैसे—॥ ७८ ॥

[चित्रालंकार]

मदिराक्षियों के कटाक्ष जिसके अस्त्र हैं वह कामदेव मुझे अवश्य जीत लेगा, यदि हमारा पाप क्षीण हो गया है। मैं अनंग देवता को पुष्पांजलि चढ़ाता हूँ ॥ ७९ ॥

जिसमें आधे मार्ग से उलटकर (अक्षरों का) भ्रमण होता है उसे अर्द्धभ्रम कहते हैं और जिसमें पूरे तौर पर चारों ओर (पद के वेही अक्षर एक क्रम से) घूम जायँ तो उसे सर्वतोभद्र कहते हैं ॥ ८० ॥

हे मनोभव, यह नहीं कि आप के सैन्य रूप यह मानवती विजय के लिये नहीं है और हे पूज्य, यह भी नहीं है कि हमलोग पापमय हैं तिसपर भी भय से हमलोग अत्यंत व्यथित हैं ॥ ८१ ॥

वह रमणी जो लक्ष्मी सी सुन्दर है जो निश्छल अपरिमित कामपीड़ा देनेवाली है, कामदेव के वंधन रूप जिसके आगमन से आराम मिलता है, जो विदेश गमन को रोकती है और जो विवेक रहिता है, चंद के साथ साथ मेरे नाश के लिये है ॥ ८२ ॥

यः स्वरस्थानवर्णानां नियमो दुष्करेष्वसौ ।
इष्टश्चतुःप्रभृत्येष दर्श्यते सुकरः परः ॥८३॥

आम्नायानामाहान्त्या वाग्गीतीरीतीः प्रीतीर्भीतीः ।
भोगो रोगो मोदो मोहो ध्येयेष्वेच्छेद्देशे क्षेमे ॥८४॥

क्षितिविजितिस्थितिविहिति व्रतरतयः परमतयः ।
उरु रुरुधुर्गुरु दुधुवुर्युधि कुरवः स्वमरिकुलम् ॥८५॥

श्रीदीप्ती ह्री कीर्ती धीनीती गीःप्रीती ।
एधेते द्वे द्वे ते ये नेमे देवेशे ॥८६॥

सामायामामाया मासा मारानायायाना रामा ।
यानावारारावानाया मायारामा मारायामा ॥८७॥

नयनानन्दजनने नक्षत्रगणशालिनि ।
अघने गगने दृष्टिरङ्गने दीयतां सकृत् ॥८८॥

अलिनीलालकलतं कं न हन्ति घनस्तनि ।
आननं नलिनच्छायनयनं शशिकान्ति ते ॥८९॥

स्वर, स्थान तथा (व्यंजन) वर्णों का किसी नियम के अनुसार प्रयोग करना दुष्कर है। इन में भी चार या इनसे कम वर्णों के नियम अधिक कठिन हैं। कुछ सुगम प्रयोग यहां दिखलाए जाते हैं ॥ ८३ ॥

वेदों के अन्तिम भाग उपनिषद् गीतों को क्षोभजनक, प्रेम को भयदायक, भोग को रोग और आनन्द को मोह बतलाते हैं, इसलिए पवित्र स्थान में परमात्मा का ध्यान करना चाहिए ॥ ८४ ॥

[इस में चार दीर्घ स्वर का नियम है।

पृथ्वी को विजय तथा राज्य दृढ़ करने के व्रत में रत तथा श्रेष्ठ ज्ञानवान कौरवगण ने युद्ध में अपने शत्रु समूह को पूर्ण रूपेण घेर कर अच्छी तरह जीत लिया ॥ ८५ ॥

[इस में अ, इ, उ तीन स्वर का नियम है।

लक्ष्मी, तेज, नम्रता, यश, प्रतिभा, शील, वाक्शक्ति और प्रीति–ये सब गुण दो दो करके आप में वर्धमान हो रहे हैं, जो देवेन्द्र में भी नहीं हैं ॥ ८६ ॥

[इसमें दो दीर्घ स्वर ई, ए का नियम है।

इसी परिच्छेद का श्लोक ८२ है जहाँ अर्थ दिया जा चुका है। इस में केवल एक दीर्घ स्वर का नियम रहा है ॥८७॥

हे प्रिये ! केवल एक बार मेघरहित आकाश की ओर देखो जो आँखों को आनंददायक तथा तारकाओं से भरा हुआ है ॥ ८८ ॥

[इसमें ओष्ठ रहित चार अन्य स्थान का नियम है।

हे पीनपयोधरे, भ्रमर से काले तथा लता से लंबे बाल, कमल सदृश नेत्र तथा चन्द्र सी कांति युक्त तुम्हारा मुख किसे नहीं व्याकुल करता ? ॥ ८९ ॥

[ओष्ठ्य–मूर्धन्य रहित तीन स्थान के वर्ण युक्त हैं।

अनङ्गलङ्घनालग्ननानातङ्का सदङ्गना ।
सदानघ सदानन्दनताङ्गासङ्गसङ्गतः ॥९०॥

अगा गां गाङ्गकाकाकगाहकाघककाकहा ।
अहाहाङ्ग खगाङ्कागकङ्कागखगकाकक ॥९१॥

रे रे रोरुरुरोरुगागोगोगाङ्गोगगुः ।
किं केकाकाकुकः काको मा मामामाममामम ॥९२॥

देवानां नन्दनो देवो नोदनो वेदनिन्दितः ।
दिवं दुदाव नादेन दाने दानवनन्दिनः ॥९३॥

सूरिः सुरासुरासारिसारः सारससारसाः ।
ससार सरसीः सीरी ससूरूः स सुरारसी ॥९४॥

हे सर्वदा पाप से रहित साध्वी स्त्री, तुम सर्वदा आनंद-मय और सुन्दर अंगोंवाली हो पर दुष्टों के संग से काम के आक्रमण जनित संतापों के पार हो हो ॥ ९० ॥

[इसमें दंत्य और कंठ्य दो स्थानीय वर्ण हैं ।

गंगाजल-तरंग में स्नान करनेवाले, कभी दुःखित न होनेवाले, सुमेरु पर्वत तक जानेवाले, नश्वर इंद्रिय सुख की इच्छा न करनेवाले और पाप रूपी वायसों को नष्ट करनेवाले आप ने पृथ्वी की प्रदक्षिणा किया (स्वर्ग को गए) ॥९१॥

[केवल कंठ्य वर्णों से बना है । किसी परिव्राजक की स्तुति है ।

अरे लक्ष्मी का मोह करनेवाले (अर्थात-कृपण), जिसने व्याकुलता से रोते हुए रुरु हिरन के वक्षस्थल पर घाव करने का पाप किया है, जो पर्वत-प्रांत में रहनेवाला तथा प्रलाप करनेवाला है, मेरे पास मत आ । कौवा क्या मोर की मधुर ध्वनि करने योग्य है ॥ ९२ ॥

[र, ग, क, म चार ही व्यंजनों से यह श्लोक निर्मित हुआ है ।

देवताओं को आनंददायक तथा वेदनिंदकों के नाशक देव नृसिंह जी ने दानवों के आनन्ददाता (हिरण्यकशिपु) की छाती फाड़कर सिंहनाद से अन्तरिक्ष का विदारण किया ॥ ९३ ॥

[द, व, न केवल तीन ही वर्ण युक्त हैं ।

विद्वान और देव तथा असुर दोनों को दमन करने की शक्ति रखनेवाले मदिरा-प्रिय (बलदेवजी) अपनी सुन्दर जघनों वाली स्त्री (रेवती) के साथ उच्च शब्द करते हुए सारसों से परिपूर्ण तड़ाग में उतरे ॥ ९४ ॥

[स, र केवल दो ही व्यंजनों से युक्त है ।

नूनं नुन्नानि नानेन नाननेनाननानि नः ।
नानेना ननु नानूनेनैनेनानानिनो निनीः ॥९५॥

इति दुष्करमार्गेऽपि कश्चिदादर्शितः क्रमः ।
प्रहेलिकाप्रकाराणां पुनरुद्दिश्यते गतिः ॥९६॥

क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे ।
परव्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः ॥९७॥

आहुः समागतां नाम गूढार्थां पदसंधिना ।
वञ्चितान्यत्र रूढेन यत्र शब्देन वञ्चना ॥९८॥

व्युत्क्रान्तातिव्यवहितप्रयोगान्मोहकारिणी ।
सा स्यात् प्रमुषिता यस्यां दुर्बोधार्था पदावली ॥९९॥

समानरूपा गौणार्थारोपितैर्ग्रथिता पदैः ।
परुषा लक्षणास्तित्वमात्रव्युत्पादितश्रुतिः ॥१००॥

संख्याता नाम संख्यानं यत्र व्यामोहकारणम् ।
अन्यथा भासते यत्र वाक्यार्थः सा प्रकल्पिता ॥१०१॥

निश्चयतः सामने के प्रबल (शत्रु) ने हमलोगों के प्राणों को मुख ही से केवल खींच लिया है ? यही नहीं हमारे प्रभु (अपने सैनिकों के) प्राणों की रक्षा भी करने के इच्छुक हैं ॥ ६५ ॥

[केवल नकार से यह पद्य बना है ।

क्रमशः इस प्रकार कुछ दुष्कर नियमानुकूल पद्यबंध के उदाहरण दिए गए । अब प्रहेलिका विषयक कुछ नियम बतलाए जाँयगे ॥ ६६ ॥

मजलिस या विनोद में, जनसमूह के बीच विज्ञगण को बात करते भी रहस्य का गोपन करने में या दूसरों को भुलाने के लिए प्रहेलिकाओं का उपयोग होता है ॥ ६७ ॥

समागता वह है जिसमें पदों में संधि करने से अर्थ गूढ़ हो जाता है । वंचिता उसे कहते हैं जिसमें उस शब्द के प्रसिद्ध अर्थ से भिन्न अर्थ लेने की प्रवंचना की जाती है ॥ ६८ ॥

व्युत्क्रांता वह है जिसमें शब्द (व्याकरण के नियमों के विरुद्ध) अत्यन्त दूर पर रखकर व्यामोह पैदा किया जाता है । प्रमुषिता वह होती है जिसमें दुर्बोध शब्दों का प्रयाग होता है ॥ ६६ ॥

समानरूपा वह है जहाँ शब्दों के लाक्षणिक अर्थ ही लेकर रचना हुई हो । परुषा वह है जिसमें कुछ ध्वनियों से जिनका अस्तित्वमात्र ज्ञान पड़ता है, कुछ अर्थ लगा लिया गया हो ॥ १०० ॥

जिसमें संख्याओं के कारण ही व्यामोह हो वह संख्याता है । जहाँ वाक्य का अर्थ कुछ और ही ज्ञात हो उसे प्रकल्पिता कहते हैं ॥ १०१ ॥

सा नामान्तरिता यस्यां नाम्नि नानार्थकल्पना ।
निभृता निभृतान्यार्था तुल्यधर्मस्पृशा गिरा ॥१०२॥

समानशब्दोपन्यस्तशब्दपर्यायसाधिता ।
संमूढा नाम या साक्षान्निर्दिष्टार्थापि मूढये ॥१०३॥

योगमालात्मिका नाम या स्यात् सा परिहारिका ।
एकच्छन्नाश्रितं व्यक्तं यस्यामाश्रयगोपनम् ॥१०४॥

सा भवेदुभयच्छन्ना यस्यामुभयगोपनम् ।
संकीर्णा नाम सा यस्यां नानालक्षणसंकरः ॥१०५॥

एताः षोडश निर्दिष्टाः पूर्वाचार्यैः प्रहेलिकाः ।
दुष्टप्रहेलिकाश्चान्यास्तैरधीताश्चतुर्दश ॥१०६॥

दोषानपरिसंख्येयान् मन्यमाना वयं पुनः ।
साध्वीरेवाभिधास्यामस्ता दुष्टा यास्त्वलक्षणाः ॥१०७॥

न मया गोरसाभिज्ञं चेतः कस्मात् प्रकुप्यसि ।
अस्थानरुदितैरेभिरलमालोहितेक्षणे ॥१०८॥

जहाँ एक संज्ञा के कई अर्थों की कल्पना की जाय वहां नामान्तरिता होती है। जहां प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के साधारण धर्म को प्रकट करनेवाली वाणी वास्तविक अर्थ गोपन करके दूसरा अर्थ दे वहाँ निभृता प्रहेलिका होती है ॥ १०२ ॥

पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करके जो कहा जाय वह समानशब्दा है। जिससे स्पष्ट कह देने पर भी व्यामोह उत्पन्न हो वह सम्मूढ़ा कहलाती है ॥ १०३ ॥

परिहारिका वह है, जिसकी रचना में यौगिकशब्द समूह प्रयुक्त हुए हों। एकच्छन्ना वह है जिसमें आधेय स्पष्ट हो और आधार गुप्त हो ॥ १०४ ॥

उभयच्छन्ना में आधार तथा आधेय दोनों ही छिपे रहते हैं। संकीर्णा वह है जिसमें कई प्रकार की प्रहेलिका के लक्षण मिलगए हों ॥ १०५ ॥

पूर्वाचार्यों ने इस सोलह प्रकार की प्रहेलिकाओं का निर्देश किया है। चौदह दुष्ट प्रहेलिका भी इन लोगों ने बतलाए हैं ॥ १०६ ॥

हम फिर यह समझते हैं कि दोष अपरिमिति हो सकते हैं और इस लिए केवल निर्दोष भेदों का वर्णन किया है। दुष्ट भेदों का वर्णन अयोग्य है ॥ १०७ ॥

समागता का उदाहरण—मेरे कारण मेरा हृदय दुग्ध पर लुब्ध नहीं हुआ है (मेरा हृदय अपराध का आदी नहीं हुआ है) इसलिये तुम क्यों कोप करती हो। ऐ आरक्तनयनी, इस प्रकार का अकारण रुदन बंद करो ॥ १०८ ॥

[मेआगो रसभिज्ञम् की संधि से दो अर्थ हो गए।

कुब्जामासेवमानस्य यथा ते वर्धते रतिः ।
नैवं निर्विशतो नारीरमरस्त्रीविडम्बिनीः ॥१०९॥

दण्डे चुम्बति पद्मिन्या हंसः कर्कशकण्टके ।
मुखं वल्गुरवं कुर्वस्तुण्डेनाङ्गानि घट्टयन् ॥११०॥

खातयः कनि काले ते स्फातयः स्फार्हवल्गवः ।
चन्द्रे साक्षाद्भवन्त्यत्र वायवो मम धारिणः ॥१११॥

अत्रोद्याने मया दृष्टा वल्लरी पञ्चपल्लवा ।
पल्लवे पल्लवे ताम्रा यस्यां कुसुममञ्जरी ॥११२॥

सुराः सुरालये स्वैरं भ्रमन्ति दशनार्चिषा ।
मज्जन्त इव मत्तास्ते सौरे सरसि संप्रति ॥११३॥

नासिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता ।
अस्ति काचित् पुरी यस्यामष्टवर्णाह्वया नृपाः ॥११४॥

वंचिता का उदाहरण—कुब्जा (कान्यकुब्ज की स्त्री) के साथ भोग विलास करने से जिस प्रकार आप को संतोष मिलता है वैसा अप्सरा के समान अन्य स्त्रियों के समागम से नहीं होता ॥ १०६ ॥

[कुब्जा के प्रसिद्ध अर्थ का कान्यकुब्ज निवासिनी अर्थ लिया गया है ।

व्युत्क्रांता का उदाहरण—हंस कठोर कंटक युक्त कमल नाल से अंगों को रगड़ता हुआ तथा मनोहर शब्द करता हुआ चोंच से मुख (कमल) का चुम्बन करता है ॥ ११० ॥

प्रमुषिता का उदाहरण—हे कुमारी तुम्हारे पैरों में आनन्ददायक शब्द करनेवाला अत्यन्त सुन्दर नूपुर आल्हाद देनेवाला दिखलाई दे रहा है। मेरे प्राण स्थिर हो रहे हैं ॥ १११ ॥

समानरूपा का उदाहरण—इस उद्यान में पाँच पल्लव युत लता (बाहु) को देखा, जिसके पत्ते पत्ते (उंगली) में लाल कुसुम मंजरी (नख) लगी है ॥ ११२ ॥

मदिरा बनाने वाले (देवगण) कलवरिया (देव मंदिर) में दांत दिखलाते हुए सुरा के तालाब (मानसर) में मानो डूबने से मत्त होकर स्वच्छंद होकर घूमते हैं ॥ ११३ ॥

संख्याता का उदाहरण—जिसके बीच में सानुनासिक वर्ण हैं और दोनों ओर जिसके चार वर्ण हैं, ऐसी कोई पुरी है जिसके राजाओं की पदवी आठ वर्ण की है ॥ ११४ ॥

क्, आ, अ, च्, ई से कांची पुरी हुई। अष्टवर्णा से कुछ लोग पल्लव राजवंश लेते हैं पर प्, अ, ल्, ल्, अ, व्, अ सात ही अक्षर होते हैं। कुछ लोग पुण्ड्रक लेते हैं, जिसमें आठ वर्ण हो जाते हैं ॥

गिरा स्खलन्त्या नम्रेण शिरसा दीनया दृशा ।
तिष्ठन्तमपि सोत्कम्पं वृद्धे मां नानुकम्पसे ॥११५॥

आदौ राजेत्यधीराक्षि पार्थिवः कोऽपि गीयते ।
सनातनश्च नैवासो राजा नापि सनातनः ॥११६॥

हृतद्रव्यं नरं त्यक्त्वा धनवन्तं व्रजन्ति काः ।
नानाभङ्गिसमाकृष्टलोका वेश्या न दुर्धराः ॥११७॥

जितप्रकृष्टकेशाख्यो यस्तवाभूमिसाह्वयः ।
स मामद्य प्रभूतोत्कं करोति कलभाषिणि ॥११८॥

शयनीये परावृत्य शयितौ कामिनौ क्रुधा ।
तथैव शयितौ रागात् स्वैरं मुखमचुम्बताम् ॥११९॥

प्रकल्पिता का उदाहरण—लड़खड़ाती भाषा, लटके हुए शिर, दीन दृष्टि तथा कांपते हुए खड़े मुझ पर भी हे वार्धक्य (लक्ष्मी) तुम कृपा नहीं करती ॥ ११५ ॥

नामांतरिता का उदाहरण—हे चंचलनयनी, कोई पार्थिव (पृथ्वी जनित) जिसके आदि में राजा है और जो तन रहित भी नहीं है वह क्या है ? वह राजा भी नहीं है और सनातन भी नहीं है ॥ ११६ ॥

[गूढ़ार्थ—राजातन वृक्ष है, जिसका नाम राजादन और पियाल भी है ।

निभृता का उदाहरण—अनेक प्रकार की भावभंगियों (तरंगों) से सब लोगों को आकृष्ट करती है, धैर्यवान (पर्वत से कष्ट से निकली हुई) है, निर्धन हो गए (धारावेग से वृक्ष आदि बह गए) लोगों (आश्रयपर्वत) को छोड़कर जो धनवान (समुद्र) के पास जाती है वह कौन है ? वह वेश्या नहीं है ॥ ११७ ॥

[उत्तर-नदी है ।

समानशब्दा का उदाहरण—हे मृदुभाषिणी, प्रकृष्ट केश जिसका पर्याय (प्रवाल) है उससे बढ़कर है, जिसका नाम अभूमि (अधर) है वह तुम्हारा (ओठ) आज मुझको अत्यन्त उत्कंठित कर रहा है ॥ ११८ ॥

[प्रकृष्ट केश पद से प्रबाल तथा अभूमि पद से अधर शब्द लक्षणों से लक्षित किया गया है ।

सम्मूढ़ा का उदाहरण—दोनों प्रेमी क्रोध से मुख फेर कर शैया पर सो गए और उसी प्रकार सोये हुए अनुराग के कारण स्वच्छंदता से मुख चुम्बन करते रहे ॥ ११९ ॥

[मुख फेरे हुए चुम्बन करना अघटित है पर तात्पर्य यह है कि क्रोध शांत होने पर फिर तथैव अर्थात् जैसा चाहिए उस प्रकार सोकर अर्थात् सम्मुख होकर चुम्बन किया ।

विजितात्मभवद्वेषिगुरुपादहतो जनः ।
हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमाभिनन्दति ॥१२०॥

न स्पृशत्यायुधं जातु न स्त्रीणां स्तनमण्डलम् ।
अमनुष्यस्य कस्यापि हस्तोऽयं न किलाफलः ॥१२१॥

केन कः सह संभूय सर्वकार्येषु संनिधिम् ।
लब्ध्वा भोजनकाले तु यदि दृष्टो निरस्यते ॥१२२॥

सहया सगजा सेना सभटेयं न चेज्जिता ।
अमात्रिकोऽयं मूढः स्यादक्षरज्ञश्च नः सुतः ॥१२३॥

सा नामान्तरितामिश्रा वञ्चितारूपयोगिनी ।
एवमेवेतरासामप्युन्नेयः संकरक्रमः ॥१२४॥

[इति प्रहेलिकामार्गो दुष्करात्मापि दर्शितः ।
विद्वत्प्रयोगतो ज्ञेया मार्गाः प्रश्नोत्तरादयः ॥]

[विशदबुद्धिरनेन सुवर्त्मना सुकर दुष्करमार्गमवैति हि ।
न हि तदन्यनयेपि कृतश्रमः प्रभुरिमं नयमेतुमिदं विना ॥]

इति शब्दालंकाराः ॥

परिहारिका का उदाहरण—गरुड़ से पराजित (इन्द्र) के पुत्र (अर्जुन) के शत्रु (कर्ण) के गुरु (सूर्य) के किरणों से संतप्त मनुष्य शैत्य के नाशक (अग्नि) के शत्रु (जल) को धारण करनेवाले (मेघ) से व्याप्त आकाश का अभिनंदन करते हैं ॥ १२० ॥

एकच्छन्ना का उदाहरण—जिसने न कभी आयुध लिया और न कभी कामिनियों का स्तन स्पर्श किया वैसा यह किसी अमनुष्य का हाथ फलहीन नहीं है ॥ १२१ ॥

[अमनुष्य से गन्धर्व का तात्पर्य है और गन्धर्वहस्त रेंड के वृक्ष को कहते हैं, जिसमें फल लगता है ॥

उभयच्छन्ना का उदाहरण—कौन (कः–उत्तर केश) किस के (केन–उत्तर मस्तक से) साथ मिलकर और सब काम में पास रहकर भी भोजन के समय यदि दिखलाई पड़ता है तो निकाल बाहर किया जाता है ॥ १२२ ॥

संकीर्णा का उदाहरण—यदि यह सेना (वर्णमाला) हय (हकार यकार) गज (ग, ज) और भट (भ, ट) सहित न जीती गई तब हमारे यह पुत्र धन मर्यादा (मात्रा ज्ञान) से अनभिज्ञ और (वर्णमाला रट लेने वाले) मूढ़ रह जांयगे ॥ १२३ ॥

इसमें नामांतरिता तथा वंचिता दोनों का मेल है। इसी प्रकार अन्य प्रहेलिकाओं के मेल होते हैं ॥ १२४ ॥

इस प्रकार दुष्कर होने पर भी प्रहेलिका का विषय स्पष्ट कर दिया गया। विद्वानों के प्रयोग से प्रश्नोत्तर आदि को समझना चाहिए।

इस सुमार्ग से बुद्धि विशद होती है और सुगम तथा दुर्गम रचना का ज्ञान होता है। इसके बिना जाने दूसरों में परिश्रम करने पर भी इसका ज्ञाता नहीं हो सकता ॥

[काव्ये दोषा गुणाश्चैव विज्ञातव्या विचक्षणैः ।
दोषा विपत्तये तत्र गुणाः संपत्तये यथा ॥
अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् ।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसंधिकम् ॥१२५॥

देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च ।
इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः ॥१२६॥

प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ ।
विचारः कर्कशः प्रायस्तेनालीढेन किं फलम् ॥१२७॥

समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थमितीष्यते ।
उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति ॥१२८॥

समुद्रः पीयते देवैरहमस्मि जरातुरः ।
अमी गर्जन्ति जीमूता हरेरैरावणः प्रियः ॥१२९॥

इदमस्वस्थचित्तानामभिधानमनिन्दितम् ।
इतरत्र कविः को वा प्रयुञ्जीतैवमादिकम् ॥१३०॥

एकवाक्ये प्रबन्धे वा पूर्वापरपराहतम् ।
विरुद्धार्थतया व्यर्थमिति दोषेषु पठ्यते ॥१३१॥

जहि शत्रुबलं कृत्स्नं जय विश्वंभरामिमाम् ।
न च ते कोऽपि विद्वेष्टा सर्वभूतानुकम्पिनः ॥१३२॥

अस्ति काचिदवस्था सा साभिषङ्गस्य चेतसः ।
यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थापि भारती ॥१३३॥

मर्मज्ञों को काव्य के दोष और गुण मनन करने चाहिएँ। दोषों से असफलता और गुणों से सफलता होती है॥

अर्थहीन, निष्प्रयोजन, समानार्थक, शंकायुक्त, अनियमित, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, वृत्त की भिन्नता, विसंधि ॥ १२५ ॥

और स्थान, समय, कला, लोक, न्याय या धर्मशास्त्र का विरोध ये दस दोष हैं, जिन्हें काव्य में बुद्धिमानों को त्याग देना चाहिए ॥ १२६ ॥

जिस आदर्श को लेकर कथा वस्तु का आरंभ हो उससे गिरजाना, ठीक ठीक हेतु और दृष्टान्त का न देना दोष है या नहीं है-यह विचार कठिन है। इस पर विशेष कष्ट करने से क्या फल है ? ॥ १२७ ॥

समुदाय रूप में अर्थ-शून्य होना ही अपार्थ (अर्थ-हीनता) कहलाता है। उन्मत्त, मत्त और बालकों की बातों में छोड़ कर अन्यत्र यह दोष होता है ॥ १२८ ॥

देवता समुद्र को पी रहे हैं, मैं वृद्ध हो गया हूँ, ये बादल गर्ज रहे हैं, इन्द्र को ऐरावत प्रिय है ॥ १२९ ॥

यह अस्वस्थ चित्तों के लिए अनिंदनीय कथन है। इनके सिवा कौन कवि है, जो इस प्रकार के प्रयोग करेगा ? ॥१३०॥

एक वाक्य या प्रबन्ध में जब पहले का अंश आगे के अंश का अर्थविरोधी होता है, तो इसे व्यर्थ दोष कहते हैं ॥१३१॥

शत्रु को कुल सेना को मारो और इस पृथ्वी को विजय करो। सब पर अनुग्रह रखने से कोई भी आपका शत्रु नहीं है ॥ १३२ ॥

आवेश युक्त होने पर चित्त की वह विचित्र अवस्था होती है जिसमें विरोधी अर्थ के वाक्य भी मतानुकूल होते हैं ॥ १३३ ॥

परदाराभिलाषो मे कथमार्यस्य युज्यते ।
पिबामि तरलं तस्याः कदा नु दशनच्छदम् ॥१३४॥

अविशेषेण पूर्वोक्तं यदि भूयोऽपि कीर्त्यते ।
अर्थतः शब्दतो वापि तदेकार्थं मतं यथा ॥१३५॥

उत्कामुन्मनयन्त्येते बालां तदलकत्विषः ।
अम्भोधरास्तडित्वन्तो गम्भीराः स्तनयित्नवः ॥१३६॥

अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद्विवक्ष्यते ।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलंक्रिया ॥१३७॥

हन्यते सा वरारोहा स्मरेणाकाण्डवैरिणा ।
हन्यते चारुसर्वाङ्गी हन्यते मञ्जुभाषिणी ॥१३८॥

निर्णयार्थं प्रयुक्तानि संशयं जनयन्ति चेत् ।
वचांसि दोष एवासौ ससंशय इति स्मृतः ॥१३९॥

मनोरथप्रियालोकरसलोलेक्षणे सखि ।
आराद्वृत्तिरसौ माता न क्षमा द्रष्टुमीदृशम् ॥१४०॥

ईदृशं संशयायैव यदि जातु प्रयुज्यते ।
स्यादलंकार एवासौ न दोषस्तत्र तद्यथा ॥१४१॥

उदाहरण—क्या परस्त्री की इच्छा हमारे से कुलीन के योग्य है? आह! कब उसके काँपते हुए ओठों को पीऊँगा॥ १३४॥

पहले कही हुई बात के शब्दों या अर्थ मात्र को विना किसी विशेषता के दुहराना ही एकार्थ दोष कहलाता है। जैसे—

यह उत्कंठिता बाला अपने बालों के समान कान्तिवाले (काले) बादलों को (देखकर) उन्मना हो रही है-बिजली से युक्त, गंभीर और गरजते हुए॥ १३६॥

जब दया का अतिशयोक्ति या ऐसा ही कुछ भाव दिखलाया जाय तो पुनरुक्ति भी दोष नहीं रह जाता प्रत्युत् एक गुण हो जाता है॥ १३७॥

उदाहरण—वह सुन्दर स्त्री कामदेव के अकारण वैर से मारी जाती है, वह सुन्दर अंगोंवाली मारी जाती है, वह मीठा बोलने वाली मारी जाती है॥ १३८॥

शंका निवारणार्थ कहे गए वाक्य ही यदि शंका उत्पन्न करें तो ऐसे ही वाक्य 'ससंशय' दोष युक्त कहे जाते हैं॥१३९॥

अपने प्रिय को देखने की इच्छुक चंचल आँखोंवाली हे सखी, माता दूर (पास) पर हैं। इसे वे नहीं देख (क्षमा कर) सकतीं॥ १४०॥

[यहाँ 'आरात्' शब्द दूर तथा पास दोनों अर्थ का द्योतक है।

इस प्रकार का जब कभी प्रयोग होता है तब शंका उत्पन्न होती है। यही उस समय अलंकार होजाता है और दोष नहीं कहलाता, जब उसका प्रयोग इस प्रकार होता है॥१४१॥

पश्याम्यनङ्गजातङ्कलङ्घितां तामनिन्दिताम् ।
कालेनैव कठोरेण ग्रस्तां किं नस्त्वदाशया ॥१४२॥

कामार्ता घर्मतप्ता वेत्यनिश्चयकरं वचः ।
युवानमाकुलीकर्तुमिति दूत्याह नर्मणा ॥१४३॥

उद्देशानुगुणोऽर्थानामनूद्देशो न चेत् कृतः ।
अपक्रमाभिधानं तं दोषमाचक्षते बुधाः ॥१४४॥

स्थितिनिर्माणसंहारहेतवो जगताममी ।
शंभुनारायणाम्भोजयोनयः पालयन्तु वः ॥१४५॥

यत्नः संबन्धविज्ञानहेतुकोऽपि कृतो यदि ।
क्रमलङ्घनमप्याहुः सूरयो नैव दूषणम् ॥१४६॥

बन्धुत्यागस्तनुत्यागो देशत्याग इति त्रिषु ।
आद्यन्तावायतक्लेशौ मध्यमः क्षणिकज्वरः ॥१४७॥

शब्दहीनमनालक्ष्यलक्ष्यलक्षणपद्धतिः ।
पदप्रयोगोऽशिष्टेष्टः शिष्टेष्टस्तु न दुष्यति ॥१४८॥

अवते भवते बाहुर्महीमर्णवशक्वरीम् ।
महाराजन्नजिज्ञासा नास्तीत्यासां गिरां रसः ॥१४९॥

उस निर्दोष सुन्दरी को देखती हूँ, जो अनंग (कामदेव, अशारीरिक) से उत्पन्न कष्ट से व्यथित है और कठोर काल (ऋतु, यम) से ग्रस्त है। अब तुम से हम क्या आशा करें ? १४२ ॥

कामदेव की सताई हुई है या घाम से तप्त है इस प्रकार की अनिश्चयात्मक बात दूती ने विनोद से युवा प्रेमी को व्याकुल करने के लिए कहा ॥ १४३ ॥

जिस संख्या क्रम से अभिलषित बात कही जाय उसका पुनः उल्लेख उसी क्रम से न हो तो विद्वान उसे अपक्रम दोष कहते हैं ॥ १४४ ॥

उदाहरण—इस संसार के पालन, निर्माण और संहार के कारण शिव, विष्णु और ब्रह्मा तुम लोगों को पालें ॥ १४५ ॥

क्रम संबंध समझाने के लिए यदि कोई उचित प्रयत्न किया जाय तो विद्वान लोग क्रमभंग होने पर भी उसे दोष नहीं मानते ॥ १४६ ॥

बन्धुत्याग, तनत्याग और देशत्याग तीनों में से पहला और अन्तिम बहुत दिनों तक क्लेश देता है और मध्य क्षण मात्र के लिए कष्टकर है ॥१४७॥

व्याकरण के नियमों के विरुद्ध और जो विद्वानों को इष्ट नहीं है ऐसे पदप्रयोग को शब्दहीन दोष कहते हैं पर जो विद्वानों से प्रयुक्त हुआ है वह दोष नहीं है ॥ १४८ ॥

जिस पृथ्वी को समुद्र मेखला के समान घेरे हुए है, उसकी आपके बाहु रक्षा करते हैं। हे महाराज इसमें कुछ जिज्ञासा के योग्य नहीं है। इस बात में कुछ रस नहीं है ॥१४९॥

[अवते का अवति, भवते का भवतो, अर्णवशक्करीम् का अर्णवशक्करिकाम् और महाराजन् का महाराज होना चाहिए]

दक्षिणाद्रेरुपसरन् मारुतश्चूतपादपान् ।
कुरुते ललिताधूतप्रवालाङ्कुरशोभिनः ॥१९०॥

इत्यादि शास्त्रमाहात्म्यदर्शनालसचेतसाम् ।
अपभाषणवद्भाति न च सौभाग्यमुज्झति ॥१९१॥

श्लोकेषु नियतस्थानं पदच्छेदं यतिं विदुः ।
तदपेतं यतिभ्रष्टं श्रवणोद्वेजनं यथा ॥१९२॥

स्त्रीणां संगीतविधिमयमादित्यवंश्यो नरेन्द्रः
पश्यत्यक्लिष्टरसमिह शिष्टैरमेत्यादि दुष्टम् ।
कार्याकार्याण्ययमविकलान्यागमेनैव पश्यन्
वश्यामुर्वी वहति नृप इत्यस्ति चैवं प्रयोगः ॥१९३॥

लुप्ते पदान्ते शिष्टस्य पदत्वं निश्चितं यथा ।
तथा संधिविकारान्तं पदमेवेति वर्ण्यते ॥१९४॥

तथापि कटु कर्णानां कवयो न प्रयुञ्जते ।
ध्वजिनी तस्य राज्ञः केतूदस्तजलदेत्यदः ॥१९५॥

वर्णानां न्यूनताधिक्ये गुरुलघ्वयथास्थितिः ।
तत्र तद्भिन्नवृत्तं स्यादेष दोषः सुनिन्दितः ॥१९६॥

इन्दुपादाः शिशिराः स्पृशन्तीत्यूनवर्णता ।
सहकारस्य किसलयान्यार्द्राणीत्यधिकाक्षरम् ॥१९७॥

दक्षिण पर्वत से चली हुई हवा आम्रवृक्षों को, उसके कोमल मूँगे से लाल अंकुरों को हिलाकर शोभित करती है ॥१५०॥

शास्त्र के नियमों को जाँचने में जिनकी बुद्धि मंद है वे इस प्रकार के पदों को अशुद्ध मानेंगे पर ये शुद्ध से परे नहीं हैं ॥ १५१ ॥

श्लोक में नियत स्थानों पर जो पदच्छेद होता है, उसे यति कहते हैं। इससे विगत पद यतिभ्रष्ट कहलाते हैं जो कर्णकटु होता है। जैसे—॥ १५२ ॥

सूर्य वंश के यह राजा योग्य पुरुषों के साथ स्त्रियों के संगीत दृश्य को, जिसमें रस कम नहीं हुआ है, देखते हैं- इसमें यतिभंग (संगी—तविधिम् । आ—दित्य... । अक्लि-ष्ट । शि-ष्टै (रभोत्यादि) है। कार्यों और अकार्यों को पूर्णतया और वेदानुसार करके राजा पृथ्वी को वश्या के समान धारण करता है। ऐसा प्रयोग (कार्याकार्या—एययम् । अविकला-न्यागमेनैव । इ—त्यस्ति ।) होता है ॥१५३॥

जिस प्रकार पदान्त के लुप्त होने पर भी अवशेष का पदत्व बना रहता है, उसी प्रकार संधि होने के अनंतर अंत पद भी पूरा समझा जाता है, जैसे (कार्याकार्या) ॥१५४॥

तिस पर भी कविगण कर्णकटु प्रयोग नहीं करते। जैसे, उस राजा की सेना (के झंडे) ने बादल को ऊंचा उठा दिया (के-तु) ॥ १५५ ॥

वर्णों की न्यूनता या आधिक्य और गुरु या लघु मात्रा के उचित स्थान पर न होने से भिन्नवृत्त दोष होता है, जो अत्यंत निन्दित है ॥ १५६ ॥

(इंदुपादाः । शिशिराः) शीतल चंद्र-किरणें छूती हैं। इस में वर्ण की न्यूनता है। (सहकारस्य किसलयान्या) आम के आर्द्र कोमल पत्तों में वर्णाधिक्य है ॥ १५७ ॥

कामेन बाणा निशाता विमुक्ता
मृगेक्षणास्वित्ययथागुरुत्वम् ।
मदनस्य बाणा निशिताः पतन्ति
वामेक्षणास्वित्ययथालघुत्वम् ॥१५८॥

न संहितां विवक्षामीत्यसंधानं पदेषु यत् ।
तद्विसंधीति निर्दिष्टं न प्रगृह्यादिहेतुकम् ॥१५९॥

मन्दानिलेन चलता अङ्गनागण्डमण्डले ।
लुप्तमुद्भेदि घर्माम्भो नभस्यस्मद्वपुष्यपि ॥१६०॥

[आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा विनाशिने ।
को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत् ॥]

मानेर्ष्ये इह शीर्येते स्त्रीणां हिमऋतौ प्रिये ।
आसु रात्रिष्विति प्राज्ञैराम्नातं व्यस्तमीदृशम् ॥१६१॥

देशोऽद्रिवनराष्ट्रादिः कालो रात्रिंदिवर्तवः ।
नृत्यगीतप्रभृतयः कलाः कामार्थसंश्रयाः ॥१६२॥

चराचराणां भूतानां प्रवृत्तिर्लोकसंज्ञिता ।
हेतुविद्यात्मको न्यायः सस्मृतिः श्रुतिरागमः ॥१६३॥

तेषुतेष्वयथारूढं यदि किंचित् प्रवर्तते ।
कवेः प्रमादाद्देशादिविरोधीत्येतदुच्यते ॥१६४॥

मृगाक्षियों पर कामदेव से तीक्ष्ण बाण छोड़े गए—इस में 'निशाता' के बीच की गुरु मात्रा अनुचित स्थान पर है। सुनयनियों पर काम के तीक्ष्ण बाण गिरते हैं-इस में 'मदनस्य' की लघु मात्रा ठीक स्थान पर नहीं है ॥ १५८ ॥

मैं संधि करना नहीं चाहता, ऐसा विचार कर संधि-योग्य पदों में जो संधि नहीं करते वहीं विसंधि दोष होता है ॥१५९॥

श्रावण मास में चलती हुई मंद वायु से स्त्रियों के कपोल पर और हम लोगों के शरीर का भी धूप से उत्पन्न पसीना सुखा दिया गया ॥ १६० ॥

'मंदानिलेन चलता अङ्गनागण्डमण्डले' में ता + अ में संधि होनी चाहिए थी।

कष्ट और रोग से परिपूर्ण और आज या कल में नष्ट होने वाली शरीर के लिए कौन धर्म विरुद्ध आचरण करेगा ॥

इस में भी 'परीताय + अद्य' में संधि होनी चाहिए थी। पर कुछ आचार्य इसे सदोष नहीं समझते।

हे प्रिये, हिम ऋतु में तथा ऐसी रात्रि में स्त्रियों का मान और ईर्ष्या नष्ट हो जाती है। इस प्रकार की संधि का न होना (मानेर्ष्ये + इह) विद्वानों ने (दोष नहीं) मान लिया है ॥१६१॥

पर्वत, वन राष्ट्र आदि देश; रात्रि, दिन, ऋतु आदि काल; प्रेम के अर्थ को पुष्ट करनेवाले नृत्य, गीत आदि कला हैं ॥१६२॥

चर और अचर प्राणियों की प्रवृत्ति को ही लोक संज्ञा दी गई है। हेतु विद्या का जिसमें वर्णन है वही न्याय है। स्मृति और वेद आगम हैं ॥ १६३ ॥

इनमें से कोई भी रुढ़ि के विरुद्ध कवि के प्रमाद से थोड़ा बहुत प्रयुक्त हो जाता है, तो उसी को देशकालादि-विरोध कहते हैं ॥ १६४ ॥

कर्पूरपादपामर्शसुरभिर्मलयानिलः ।
कलिङ्गवनसंभूता मृगप्राया मतङ्गजाः ॥१६५॥
चोलाः कालागुरुश्यामकावेरीतीरभूमयः ।
इति देशविरोधिन्या वाचः प्रस्थानमीदृशम् ॥१६६॥
पद्मिनी नक्तमुन्निद्रा स्फुटत्यह्नि कुमुद्वती ।
मधुरुत्फुल्लनिचुलो निदाघो मेघदुर्दिनः ॥१६७॥
श्रव्यहंसगिरो वर्षाः शरदो मत्तबर्हिणः ।
हेमन्तो निर्मलादित्यः शिशिरः श्लाघ्यचन्दनः ॥१६८॥
इति कालविरोधस्य दर्शिता गतिरीदृशी ।
मार्गः कलाविरोधस्य मनागुद्दिश्यते यथा ॥१६९॥
वीरशृङ्गारयोर्भावौ स्थायिनौ क्रोधविस्मयौ ।
पूर्णसप्तस्वरः सोऽयं भिन्नमार्गः प्रवर्तते ॥१७०॥
इत्थं कलाचतुःषष्टिविरोधः साधु नीयताम् ।
तस्याः कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति ॥१७१॥
आधूतकेसरो हस्ती तीक्ष्णशृङ्गस्तुरंगमः ।
गुरुसारोऽयमेरण्डो निःसारः खदिरद्रुमः ॥१७२॥
इति लौकिक एवायं विरोधः सर्वगर्हितः ।
विरोधो हेतुविद्यासु न्यायाख्यासु निदर्श्यते ॥१७३॥

मलयाचल की हवा कपूर के वृक्ष के योग से सुगंधित है। कलिंग वन में उत्पन्न हाथी मृग के समान होते हैं ॥ १६५ ॥

इन दोनों उदाहरणों में देश-विरोध दोष है। पर्वत और वन दोनों ही देश के अंतर्गत हैं।

चोला कावेरी के तट पर है, जो अगुरु वृक्षों से श्याम-वर्ण हो गया है। इस प्रकार के प्रयोग देश-विरोधी वाक्य कहलाते हैं ॥ १६६ ॥

कमल रात्रि में खिल जाता है और दिन में कुमुदिनी विकसित होती है। निचुल वसंत में खिलता है। गर्मी में मेघ छाए रहते हैं ॥ १६७ ॥

वर्षा में हंसों का शब्द सुनने योग्य है, शरद में मोर मत्त होते हैं, हेमन्त में सूर्य निर्मल रहते हैं और जाड़े में चंदन की इच्छा होती है ॥ १६८ ॥

इस प्रकार काल-विरोध की चाल दिखला दी गई। अब संक्षेप में कला विरोध का रूप दिखलाया जाएगा। जैसे— १६९

वीर और शृङ्गार के (क्रमशः) क्रोध और विस्मय (वास्तव में उत्साह और रति) स्थायी भाव होते हैं। सातों स्वर मिलकर (गान होता है) यही कला विरोधी दोष कहलाता है ॥ १७० ॥

इस प्रकार चौसठों कला का विरोध दिखलाया जा सकता है। उसका रूप कला परिच्छेद में दिखलाया जाएगा ॥ १७१ ॥

हाथी अपने गर्दन के बाल को हिलाता है। घोड़े के सींघ तीक्ष्ण हैं। रेंडी के वृक्ष (के तने) में बड़ा गूदा होता है। खैर के पेड़ में गूदा नहीं होता ॥ १७२ ॥

इस प्रकार के लौकिक विरोध अति निंदनीय हैं। हेतु विद्या के न्याय विरोध का अब स्पष्टीकरण किया जाएगा ॥ १७३ ॥

सत्यमेवाह सुगतः संस्कारानविनश्वरान् ।
तथाहि सा चकोराक्षी स्थितैवाद्यापि मे हृदि ॥१७४॥

कापिलैरसदुद्भूतिः स्थान एवोपवर्ण्यते ।
असतामेव दृश्यन्ते यस्मादस्माभिरुद्भवाः ॥१७५॥

गतिर्न्यायविरोधस्य सैषा सर्वत्र दृश्यते ।
अथागमविरोधस्य प्रस्थानमुपदिश्यते ॥१७६॥

अनाहिताग्नयोऽप्येते जातपुत्रा वितन्वते ।
विप्रा वैश्वानरीमिष्टिमक्लिष्टाचारभूषणाः ॥१७७॥

असावनुपनीतोऽपि वेदानधिजगे गुरोः ।
स्वभावशुद्धः स्फटिको न संस्कारमपेक्षते ॥१७८॥

विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात् ।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥१७९॥

तस्य राज्ञः प्रभावेन तदुद्यानानि जज्ञिरे ।
आर्द्रांशुकप्रवालानामास्पदं सुरशाखिनाम् ॥१८०॥

गौतम बुद्ध ने सत्य ही कहा है कि संस्कार नश्वर नहीं हैं। इसी से वह चकोर के आँखों सी नेत्रवाली आज भी मेरे हृदय में विद्यमान हैं ॥ १७४ ॥

[पदार्थ मात्र क्षणभंगुर होते हैं और हेतुविद्या के विरुद्ध उन्हें अविनश्वर कहा गया है।

कामियों से उचित ही कहा गया है कि असत् से उत्पत्ति (अनित्य या दुष्टों से) है। इसी कारण हम लोग देखते हैं कि दुष्टों ही की उन्नति होती है ॥ १७५ ॥

[कपिल के सांख्य दर्शन का मत है कि सत् से उत्पत्ति है पर उसके विरुद्ध यहाँ कहा गया है।

इस प्रकार न्याय-विरोध की प्रथा सर्वत्र दिखलाई देती है। अब आगम विरोध का उदाहरण दिया जाएगा ॥१७६॥

वे ब्राह्मण, जिन्होंने कभी अग्निहोत्र नहीं किया था और जो आचार भ्रष्ट होना भूषण समझते हैं पुत्रोत्पति होने पर वैश्वानरी यज्ञ करते हैं ॥ १७७ ॥

[श्रुति-विरोध है।

इस (बालक) ने, उपनयन संस्कार न होने पर भी, गुरु से वेद पढ़ लिया; क्योंकि स्वभाव ही से शुद्ध स्फटिक को शुद्ध (संस्कार) करने की आवश्यकता नहीं ॥ १७८ ॥

[श्रुति स्मृति विरोध है।

ये सभी विरोध कविकौशल से कभी कभी दोष-गणना को उल्लंघन कर गुण की हाट में विचरण करते हैं ॥१७९॥

उस राजा के प्रभाव से उसके उद्यान में देव-वृक्ष लगे हुए हैं जिनके स्वच्छ पत्ते साड़ी के समान हैं ॥१८०॥

[देश विरोध होने पर दूषित नहीं माना गया।

राज्ञां विनाशपिशुनश्चचार खरमारुतः ।
धुन्वन् कदम्बरजसा सह सप्तच्छदोद्गमान् ॥१८१॥

दोलाभिप्रेरणत्रस्तवधूजनमुखोद्गतम् ।
कामिनां लयवैषम्यं गेयं रागमवर्धयत् ॥१८२॥

ऐन्दवादर्चिषः कामी शिशिरं हव्यवाहनम् ।
अबलाविरहक्लेशविह्वलो गणयत्ययम् ॥१८३॥

प्रमेयोऽप्यप्रमेयोऽसि सफलोऽप्यसि निष्फलः ।
एकस्त्वमप्यनेकोऽसि नमस्ते विश्वमूर्तये ॥१८४॥

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां पत्नी पाञ्चालपुत्रिका ।
सतीनामग्रणीश्चासीद्दैवो हि विधिरीदृशः ॥१८५॥

शब्दार्थालंक्रियाश्चित्रमार्गाः सुकरदुष्कराः ।
गुणा दोषाश्च काव्यानामिह संक्षिप्य दर्शिताः ॥१८६॥

व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन
मार्गेण दोषगुणयोर्वशवर्तिनीभिः ।
वाग्भिः कृताभिसरणो मदिरेक्षणाभि-
र्धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्तिम् ॥१८७॥

इत्याचार्यदण्डिनः कृतौ काव्यादर्शे शब्दालंकार-दोष-विभागो नाम तृतीयः परिच्छेदः ॥

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

राजाओं के विनाश का सूचक यह प्रबल मारुत सप्तच्छद के अंकुरों के साथ कदंब के पराग को उड़ाता हुआ चल रहा है॥१८१॥

[शिशिर में सप्तच्छद और वर्षा में कदंब होता है। 'अकाले फलपुष्पाणि देशविद्रवकारणम्' के अनुसार काल-विरुद्ध होने पर भी यहाँ दोष गुण हो गया है।

झूले के पेंग से डरकर स्त्रियों के मुख से निकले हुए लय की विषमता से युक्त गान ने कामियों के प्रेम को बढ़ाया॥१८२॥

[कला-विरोध के होते भी दोष नहीं है।

प्रेयसी के विरह-जनित कष्ट से आकुल प्रेमी अग्नि को चंद्र-किरणों से शीतल गिनता है॥ १८३॥

[लोक-विरुद्ध है पर दोष नहीं माना गया है।

परिमित होते हुए भी अपरिमित हो, फलयुक्त होते भी निष्फल हो और एक होते भी अनेक हो, ऐसी विश्वमूर्ति को नमस्कार है॥ १८४॥

[न्याय-विरुद्ध होते भी दूषित नहीं है।

पाञ्चालपुत्री, जो पाँच पांडवों की स्त्री थी, सतियों में अग्रणी हुई। दैव की यही विधि है॥ १८५॥

[आगम-विरुद्ध होने पर सदोष नहीं है।

शब्दालंकार और अर्थालंकार, सुगम और कठिन रीतियाँ जिनमें विचित्र शब्द-योजना हो तथा काव्य के गुण और दोष संक्षेप में बतलाए गए॥ १८६॥

इस प्रकार से दिखलाए गए मार्ग से तथा दोष और गुण की अनुयायिनी बातों से मद से लाल आँखों वाली के समान वाक् को अनुकूल बनाकर उसमें व्युत्पन्न बुद्धि सज्जन युवा के समान रमण करता है और कीर्ति पाता है॥ १८७॥

आचार्य दंडी कृत काव्यादर्श में शब्दालंकार-दोष-विभाग नाम तीसरा परिच्छेद समाप्त हुआ।



श्लोकानुक्रमणिका



आ

इ

उ

ए

ख

ग

च

न

प

म

स

अधिक श्लोक

इस माला की अन्य प्रकाशित पुस्तकें।

जरासिंधवध महाकाव्य–भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र जी के पिता बा० गिरिधरदास जी रचित हिंदी का प्रथम महाकाव्य है। 'वीर रस से परिप्लुत है।' सचित्र, पृ. सं. २०० मू. १)

निमाई सन्यास नाटक–स्वर्गीय बा० शिशिरकुमार घोष की रचना का यह अनुवाद है। वैष्णवता पर विस्तृत भूमिका दी गई है। सचित्र, पृ. सं. १८० मू. ॥।)

चंद्रालोक–पीयूषवर्ष जयदेव कृत मूल तथा उसका अनुवाद साथ ही प्रकाशित किया गया है, भूमिका, अनुक्रम आदि भी हैं। पृ. सं. १२५ मू. ॥=)

इंशा, उनका काव्य तथा रानी केतकी की कहानी-इंशा की विस्तृत जीवनी, कुछ गज़लों का संकलन तथा कहानी साथ ही प्रकाशित की गई है। पाठ बहुत ही शुद्ध है। पृ. सं. १५० मू. ॥=)

सर हेनरी लॉरेंस–भारत के हितेच्छु एक सज्जन की यह जीवनी है। अफ़ग़ान, सिख तथा ग़दर युद्धों के दृश्य दिए गए हैं। सचित्र, पृ. सं. १५० मू. ।॥)

बादशाह हुमायूँ–मुगल सम्राट् अकबर के पिता की यह जीवनी है। सचित्र, पृ. सं. ११० मू. ॥)

यशवंतसिंह तथा स्वातंत्र्य युद्ध–औरंगजेब के आँखों के काँटे जोधपुर नरेश राठौर वीर की संक्षिप्त जीवनी तथा तीस वर्ष युद्ध कर मारवाड़ को स्वतंत्र रखने का सफल प्रयत्न। सचित्र, पृ. सं. १२० मू. ॥)

मिलने का पता

श्रीकमलमणि ग्रंथमाला कार्यालय

बुँदिया, काशी।